ॐ

श्री समन्तभद्राचार्य विरचित

श्री बृहत्स्वयंभू स्तोत्र

7040

[illegible] —

श्यामकुमारजी जैन शास्त्री, न्यायतीर्थ

[illegible] —

श्री मूलचन्दजी चौधरी

[illegible] (किशनगढ़)

पत्र व्यवहार का पता [illegible] 3-9145,

[illegible]

7/36A, [illegible] दिल्ली-2

प्रकाशक —

श्री १०८ मुनि मल्लिसागर ग्रन्थमाला

मेरठ

आवृत्ति १०००, वीर संवत २४७२ मूल्य स्वाध्याय

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम **'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र'** है। **'स्वयं-भुवा'** पदसे प्रारंभ होनेके कारण यह ग्रन्थ भी **'स्वयंभूस्तोत्र'** तथा समाजमें दूसरा छोटा **'स्वयंभूस्तोत्र'** भी प्रचलित होनेके कारण यह **'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र'** कहलाता है और स्वामी समन्त भद्राचार्य द्वारा विरचित होने से यह 'समन्तभद्रस्तोत्र' भी कहलाता है। इसके अतिरिक्त, इसमें चौबीसों स्वयंभुवों-तीर्थंकरों-की स्तुति है इस कारण भी इस स्तोत्र का सार्थक नाम **'स्वयंभूस्तोत्र'** है। इस ग्रन्थकी कुल पद्यसंख्या १४३ है जिसमें अर नेमि और महा-वीर इन तीन तीर्थंकरोंकी स्तुति क्रमशः २०, १० और ८ पद्योंमें की गई है। तथा शेष २१ तीर्थंकरोंकी स्तुति पांच२ पद्यों में की गई है। उच्चकोटिकी सारगर्भित निर्मल सूक्तियोंसे सुसज्जित और सुन्दर एवं स्वल्पपदोंसे विभूषित, तथा भक्तिरससे लबालब भरा हुआ है। इसमें आचार्यश्रीने भक्ति मार्गकी अनेक उलझनोंको सुलझा दिया है, अनेक बलवती शंकाओंका सरलरूपमें बहुत अच्छा समाधान कर दिया है तथा इसको पूर्णभाव सहित पढ़ लेने वाला व्यक्ति एक अच्छा तार्किक विद्वान बन सकता है। •

प्रस्तुतग्रन्थके रचयिता स्वामी समन्तभद्राचार्य हैं जो अपने समयके सर्वोपरि प्रतिभाशाली विद्वान हो गए हैं। दर्शनविशुद्धि, सततज्ञानोपयोग, अर्हन्तभक्ति धर्म प्रभावना इन चार भावनाओंका

विकास आपमें अत्युत्कटरूपसे हुआ था अतएव आपने **तीर्थंकर** प्रकृति, का उपार्जन किया । पञ्चमकालीन इतर साधु या आचार्योंको यह सौभाग्य और गौरव प्राप्त नहीं है आपको पदऋद्धि भी प्राप्त थी । यही कारण है कि आप भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर प्रायः सभी देशों मे एक अप्रतिद्वन्दी सिंहकी नाईं क्रीड़ा करते हुए निर्भयताके साथ वादके लिये घूमे और सर्वत्र विजय वैजयन्ती फहराई । 'राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी' इस वाक्य को सच्चे स्वात्माभिमान के साथ डंकेकी चोट कहने वाले स्वामी समन्तभद्र ही हैं ।

'जिनशासनप्रणेता, स्याद्वादविद्याग्रगुरु, स्याद्वादविद्याधिपति स्याद्वादमार्गाग्रणी, स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीप, वादिसिंह वादिमुख्य कविकुंजर महाकवीश्वर, कवीन्द्रभास्वान् महान्कविवेधा, सुतर्कशास्त्रामृतसारसागर, वज्रांकुशसूक्तिजाल, मुनिवन्द्य, जनानन्द, सरस्वतीस्वैरविहारभूमि, दुर्वादिवादकंडूनां शमनैकमहौषधि, भव्यैकैरवचन्द्रमा आदि महान् उच्चपदोंका उल्लेख भगवज्जिनसेनाचार्य, पूज्यपाद आचार्य अकलङ्क स्वामी आदि प्रख्यात विद्वानोंने अपने ग्रन्थोंमें बड़े आदर के साथ किया है । वस्तुतः जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थविद्वानों और पूज्यमहात्माओं मे **भगवान्समन्तभद्र** स्वामीका आसन बहुत ऊँचा है । आप जैन कवियोंमें आद्यस्तुतिकार होते हुए भी अनुपम स्तुतिकार हुए हैं और भक्ति विषयक साहित्यनिर्माणके सर्व प्रथम मार्गदर्शक हुए हैं । आपने अपने ग्रन्थों में तार्किक पद्धतिको अधिकतर काम में लिया है ।

आपका समय विक्रमकी दूसरी या दूसरी और तीसरी शताब्दिके लगभग निश्चित है।

आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयंभूस्तोत्र, जिनस्तुतिशतक, रत्नकरण्डश्रावकाचार, जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका, गन्धहस्तिमहाभाष्य आदि महान् रचनाएं आपकी प्रसिद्ध हैं जिनमें गन्धहस्ति महाभाष्य इस समय उपलब्ध नहीं है।

आपका विस्तृत परिचय स्वामीसमन्तभद्र आदि इतिहासग्रन्थों मे जानना चाहिये।

आभार

अन्तमें मैं उन सब सज्जनोंके प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूं जिनके सहयोग और प्रेरणासे मै प्रस्तुत ग्रन्थको इस रूपमें प्रियपाठकोंके समक्ष रखने मे समर्थ हो सका हूं।

श्रीमान कुंवर सेठ श्रीनेमीचन्दजी पाटनी जो एक धर्मनिष्ठ परोपकारी सज्जन हैं तथा जिनकी धर्मोन्नतिके बारेमें सतत लगन रहती है एवं जिनकी प्रेरणासे मैं इस कार्य मे प्रवृत्त हो सका। पूज्य श्री ब्र० शीतलप्रसादजी और सम्माननीय पं० जुगलकिशोरजी सा० मुख्तार जिनकी भाषा टीकाओंका पूरा२ लाभ उठाया, सिद्धान्त महोदधि तर्क सूरि गुरुवर प० माणिकचन्दजी न्यायाचार्य, जिन्होने कतिपय कठिन स्थलोंको सरल भाषामें समझाया, यह उनकी ही कृपा है जो यह गुरुतर कार्य हम जैसे व्यक्तिसे सम्पन्न हो गया।

जैनधर्मके प्रमादसे और श्री १०८ मुनिराज श्री मल्लिसागरजी महाराजके पवित्र आशीर्वादसे यह मंगलमय कार्य सम्पन्न हुआ। प्रमाद अथवा अज्ञान वश टीकामें जो भूल हुई हो उन्हें विशेषज्ञ विद्वान क्षमा करेंगे और संशोधनार्थ हमें सूचित करनेकी कृपा करेंगे ऐसी आशा है। ऐसे जटिल कार्यमें भूल होना असम्भव नहीं है। 'को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे'।

वर्तमान मदनगंज (किशनगढ़) फाल्गुन शुक्ला पूर्णमासी वीर सम्वत् २४९३	श्रेयांसकुमार जैन शास्त्री किरतपुर (बिजनौर)

धन्यवाद

श्री १०८ मुनिराज श्री मल्लिसागरजी महाराज के मदनगंज (किशनगढ़) पधारने पर चौधरी मूलचन्दजी सा० की मातुश्री ने आहारदान देकर अपनी ओर से एक ग्रन्थ प्रकाशित कर वितरण करनेकी हार्दिक इच्छा व्यक्त की। फल स्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ श्री १०८ मल्लिसागर ग्रन्थमालासे प्रकाशित किया जा रहा है। चौधरी मूलचन्दजी सा० तथा उनकी मातुश्री को हम धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जिन्होंने इसके प्रकाशनके लिये पूर्ण आर्थिक सहायता प्रदान की है।

मंत्री—**श्री १०८ मल्लिसागर ग्रन्थमाला, मेरठ**



श्री १०८ मुनि मल्लिसागरजी महाराज

श्री १०८ मुनिराज मल्लिसागरजी महाराज का

संक्षिप्त जीवन परिचय

आदहिदं कादव्वं जं सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥

भगवान् कुंदकुन्द

बम्बई प्रान्त मे नासिक जिले मे नांदगांव एक समृद्ध कस्बा है यहां पर जैनियों की संख्या अच्छी है । प्रायः सभी भाई धार्मिक सदाचारी एवं समृद्ध हैं । इसी जगह खंडेलवाल जाति को अलंकृत करने वाले श्रीमान् सेठ दौलतरामजी सेठी निवास करते थे, आप परम उदार व्यक्ति थे । आप अपनी नैसर्गिक धर्मप्रियता एवं परोपकार तल्लीनताके लिये नांदगांवमें प्रसिद्ध थे । यही कारण था कि नांदगांव जैन समाज में आपका अच्छा आदर था ।

आपकी आदर्श नारीरत्न धर्मपत्नी का नाम सौ० सुन्दरबाई था । ये अतीव सरल परिणामी एवं धार्मिक विदुषी महिला थीं । आपकी ही पवित्र कुक्षि ने चन्दूलाल, मोतीलाल, केशरबाई एवं हरबाबाई इस तरह दो पुत्र एवं दो पुत्रियोंको जन्म दिया था ।

जेष्ठ पुत्र श्रीयुत चन्दूलालजी ने कुछ समय पूर्व इस पर्याय को छोड़ दिया । अब इस समय आपके सुपुत्र जीवित हैं, द्वितीय

पुत्र मोतीलालजी (वर्तमानमें परम पूज्य श्री १०८ मुनिराज मल्लिसागरजी महाराज) अपनी बाल्यावस्थासे ही संसारसे उदासीन एव धार्मिक क्रियाओंमें दत्तसावधान थे। बालक मोतीलाल को ५ वर्ष की अल्पावस्थामें विद्याभ्यास के लिये पाठशालामें भेजा गया अपने चातुर्यसे स्वल्प समयमें ही बुद्धिवृद्ध मोतीलाल ने अच्छा विद्याभ्यास कर लिया जिससे आपको ज्ञानाभ्यास एवं निर्वेग दोनों में ही अत्यधिक अभिरुचि का संचार होने लगा। बचपनसे ही उत्पन्न हुवा वैराग्यांकुर २५ वर्षकी अवस्था तक अच्छा एवं हरा भरा वृक्ष हो गया। इसीसे परमौदासीन निमग्न श्री मोतीलालजीने अनेकशः प्रस्तावित अपने विवाह का प्रस्ताव ठुकरा दिया।

उदासीन मोतीलालके सौभाग्य ने अथवा तथा भावी ने श्री १०८ ऐलक पन्नालालजी को नांदगांव चातुर्मास करनेके लिए लाचार कर दिया।

निरन्तर सहवास एवं शास्त्रचर्चा समागम से प्रौढ़ मोतीलाल जी का विरक्त हृदय और भी विरक्त होगया फलतः आपने कार्तिक शु० ११ सं० १९७९ के दिन प्रोक्त त्यागमूर्ति ऐलकजी से दूसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। साथ ही साथ समस्त गृहभार छोड़कर साथ ही में रहकर अपना समस्त समय विद्याध्ययनमें ही व्यतीत करने लगे। अनेक जगह वर्षायोग कर गुरुसे अलग हो कर गिरनार आदि तीर्थ-क्षेत्रों की वंदना भी की।

सप्तम प्रतिमा दीक्षारम्भ

अनुक्रम अनेक जगह धर्मोपदेश देते हुए आप ईडर राज्य पहुँचे। वहां पर आपने सं. १९८४ का वर्षायोग किया। इसी अवसर पर जगद्वन्द्य प्रातःस्मरणीय श्री १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज (छाणी) भी यहीं पर विराजमान थे। आपके चरण सान्निध्य का आपने लाभ उठाकर वहीं पर मार्गशीर्ष सुदी ७ सं. १९८४ के दिन सप्तम प्रतिमा की दीक्षा ली। "तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके, चामीकरत्वमचिरादिवधातुमेदाः' अब से मोतीलालजी ब्रह्मचर्य व्रत के प्रतिज्ञारूप से भी प्रतिपालक हो गये।

तदनन्तर ब्रह्मचारीजी (मोतीलालजी) ने तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर की यात्रा के लिए विहार किया। यहां पर आचार्य प्रवर जगद्वन्द्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज (दक्षिण) के संघ के दर्शनकर अपने को कृतार्थ किया। संघ में रहकर अनेक जगह भ्रमण कर ग्वालियर पहुँचकर पृथक विहार आरंभ कर दिया।

क्षुल्लक दीक्षा संस्कार

इसके बाद अनेक जगह भ्रमण कर पूज्य ब्रह्मचारी (मोतीलालजी) इंदोर पधारे। यहां पर आपने श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज (छाणीके) पादमूल में भाद्रपद सु. सप्तमी १९८७ के दिन ५-६ हजार जनता के समक्ष भारी उत्सव पूर्वक क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर श्रावकीय उत्तम श्रेणी में पदार्पण किया। बादमें भ्रमण कर सिद्धवरकूट तीर्थक्षेत्र की वंदना की

मुनिदीक्षा संस्कार समारम्भ

यहाँ पर जगदुद्धारक परम तपस्वी नग्न दिगम्बर वीतराग जिनाचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज (छाणी) के चरण कमलमें नग्न दिगम्बर दीक्षा की याचना की। त्रिकाल वंदनीय आचार्य महाराज ने भी आपको सर्वथा दिगम्बर दीक्षोचित समझकर अपनी तथाऽस्तु अनुमति देदी "अभ्युद्यते दिनपतौस महीरुहोऽपि, किंवा विवादमुयाति न जीवलोक:"

आपने मिती मगसर बदी १४ सं. १९८७ बुद्धवार के दिन तीर्थक्षेत्र सिद्धवर कूट पर संसार से तारने वाली, अत्यन्त दुष्प्राप्य 'स्वैराचार विरोधिनी, पद पदपर अहिंसामय, क्षण क्षण पर संयम मय ऐसी परमपवित्र परपारिव्राज्य स्वरूप दिगम्बर दीक्षा धारण की दीक्षा की समस्तविधि मंत्रपूर्वक भारी जन समूह के समक्ष श्री १०८ आचार्यवर्य शांतिसागर महाराज ने स्वयं अपने कर कमलों से की उस समय केशलोंच करते हुए तपोनिष्ठ पूज्यवर श्री १०८ मुनिराज मल्लिसागर जी महाराज का धैर्य देखते ही बनता था। आप थोड़ा भी विचलित नहीं हुए। प्रत्युत प्रसन्नचित्त एवं दृढ संकल्प दिखलाई पड़ते थे। उस समय का अपार जनसमूह अनेक मुख से धन्य २ कर रहा था, वह भव्य दृश्य अत्यन्त ही सुहावना था। उसी समय इन नवदीक्षित नग्नमुद्रा महाराजश्री ने अपने परमाराध्य दीक्षा गुरु को हजारों जनता के एवं चतुः संघके समक्ष परम उत्तरदायित्वपूर्ण आचार्यपद से अलंकृत किया।

इस तरह दीक्षा धारण कर महाराजश्री ने भ्रमण करते हुए अनेक जगह भव्यवर्ग को सम्बोधित कर बनारस पहुँच चातुर्मास किया। वहां से द्वितीय बार तीर्थराज की वंदना की तदनन्तर यू० पी०, सी० पी०, पंजाब देहली आदि ब्रिटिश प्रान्तों एवं ग्वालियर, जयपुर, धौलपुर, किशनगढ़, कुचामन, परतापगढ़ आदि देशी राज्यों में विहार होकर सहस्र मनुष्यों के चारित्र को वृद्धिगत कर जैनेतर जनता में जैनधर्म की अपार जागृति तपोधन पूज्य महाराज के द्वारा हुई है।

इस प्रकार महाराज का बाल्यकाल से लेकर अब तक का जीवन परम धार्मिक एवं शांतिमय रहा है। आपको आर्षविरुद्ध एक भी शब्द सह्य नहीं होता है। इसी कारण आधुनिक वातावरण से विलिप्त अनेक सुधारवादी व्यक्तियों को समय २ पर महाराज के सामने नतमस्तक होना पड़ता है। अस्तु,

अपनी बढ़ी चढ़ी वैराग्यवृत्ति तथा व्रताभ्यास के कारण श्री १०८ वीतराग तपस्वी परम पूज्य मुनिराज मल्लिसागर महाराज अनेक उपवास नीरस आहार, बहुत काल पर्यंत ध्यान आदि करते हैं। समय २ पर कई घंटे धारा प्रवाह धर्मोपदेश भी देते रहते हैं नित्य क्रिया एवं ध्यानातिरिक्त समय को शास्त्रस्वाध्याय एवं ज्ञानाभ्यास आदि वीतराग कार्यों में ही व्यतीत करते हैं। पूज्यतम महाराजश्री ने हजारों ही श्रावकों को व्रतारूढ़कर एवं उनसे शूद्र जल त्याग कराकर इस युग का एक महान् कार्य किया है।

आपके ही चरण कमल के प्रसाद से मेरठ में श्री १०८ मल्लिसागर दि. जैन ग्रन्थमाला कई साल से स्थापित है जिसके द्वारा समय २ पर आर्षग्रन्थ का प्रकाशन होता रहता है तथा उच्चकोटि के ग्रन्थों का खासा संग्रह रहने से स्वाध्याय प्रेमी समाज का भी परमकल्याण होता रहता है इस ग्रन्थमाला की ओर से हमारे माननीय भाई सा० श्रीयुत् पं० श्यामसुन्दरलालजी सिद्धान्त शास्त्री द्वारा रचित एवं विद्वद्वर धर्मरत्न श्री पं० लालारामजी शास्त्री द्वारा अनुवादित 'षटकर्म समुच्चय' ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है जो श्रावकों के लिये तो अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा ही साथ ही समाज के विद्यालयों की प्रारंभिक श्रेणी के छात्रोंके लिये भी एक खास चीज होगी यह निश्चित है। अस्तु,

इस प्रकार परमपूज्य श्री १०८ मुनिराज मल्लिसागरजी महाराज ने परमाराध्य एवं स्वात्मचरमोन्नतिसाधक मुनिपद को धारण कर अपना तो परम हित सम्पादन किया ही है, साथ ही आपके द्वारा धर्म एवं समाजका भी बहुत भारी हित हुआ है जिसके लिये यह जैन समाज आपका चिरकृतज्ञ एवं ऋणी रहेगा।

अन्त में मैं परम वीतराग नग्न दिगम्बर तपोमूर्ति मुनिराज १०८ मल्लिसागरजी महाराज के चरण कमलोंमें नमोऽस्तु नमोऽस्तु करता हुआ महाराज का यहा तक का जीवनचरित्र संक्षेप में पूर्ण करता हूँ।

वीरभान जैन फीरोजाबाद

श्रीमत्समन्तभद्राचार्य विरचित

वृहत्स्वयंभू स्तोत्र

सरल भावार्थ सहित।

(१) श्री आदिनाथ भगवान की स्तुति

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले,
समंजस-ज्ञान-विभूति चक्षुषा।
विराजितं येन विधुन्वता तमः,
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥ १ ॥

अर्थ—जो अपने आपही, बिना किसी दूसरेके उपदेशके, मोक्षमार्गको जानकर तथा उसका पालन करके पूर्ण आत्म-विकासको प्राप्त हुये थे, प्राणियोंका आत्मकल्याण करने वाले थे, केवलज्ञान मई नेत्रके धारक

थे और सम्यग्दर्शनादि अनन्त गुणोंके समूह वाले अपनी दिव्य ध्वनि रूप किरणोंसे प्राणियोंके दुखदायक अज्ञानरूपी अंधेरेको नाश करते हुए पृथ्वीतल पर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे प्रकाशमई किरणोंसे रात्रिके अन्धकारको दूर करता हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥ १ ॥

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः,
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो,
ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥ २ ॥

अर्थ—जिन्होंने वर्तमान अवसर्पिणीकालके चौथे कालमें होने वाले सभी राजाओंमें प्रथम प्रजापति होकर जीनेकी-जीवनोपाय को जाननेकी-इच्छा रखने वाले प्रजाजनोंको कृषि आदि षट्कर्मोंमें शिक्षित किया। फिर त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्वको विशेष जानकारी प्राप्त करके आश्चर्यकारी आत्मोन्नतिको करते हुए तत्त्वज्ञानियोंमें प्रधान होकर श्री ऋषभदेव भगवान प्रजाजन, कुटुम्बीजन, अपने शरीर तथा भोगोंके मोहसे विरक्त हो गए ॥ २ ॥

विहाय यः सागर-वारि-वाससं,
वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान्,
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मोक्ष प्राप्त करनेके अभिलाषी थे, इन्द्रिय व मनके विजेता होकर आत्मभावोंमें ठहरनेवाले थे, पूर्ण स्वतंत्र थे, उपसर्ग व परीषहोंको सहन करनेमें पूर्ण समर्थ थे, ऐसे उन विरक्त हुए इक्ष्वाकु कुलके प्रथम प्रजापतिने पतिव्रता एवं शील व्रत धारी नारीको और उसी तरह अपने अधीन व दूसरेसे न भोगी गई समुद्र पर्यन्त फैली हुई पृथ्वीको त्याग करके मुनि दीक्षा धारण की थी। दीक्षा लेने पर अपनी प्रतिज्ञामें लिये हुए व्रत नियमोंसे जरा भी चलायमान नहीं हुए।

विशेषार्थ—मुमुक्षुपना, जितेन्द्रियपना, स्वाधीनपना, सहनशीलता व प्रतिज्ञाबद्धपना ये पांच गुण मुनिपद धारण करने वालेके अन्दर होना परम आवश्यक है।

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा,
निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा,
बभूव च ब्रह्मपदाऽमृतेश्वरः ॥ ४ ॥

अर्थ—जिन्होंने अपने आत्मासम्बन्धी अज्ञान एवं राग-द्वेष-काम क्रोधादिक दोषोंके मूल कारण चार घातिया कर्मोंको अपनी शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्नि से निर्दयी होकर पूर्ण रूपसे भस्म कर दिया। तथा जिन्होंने आत्मकल्याणके इच्छुक संसारके प्राणियोंको जीवादि तत्त्वोंका सच्चा स्वरूप बतलाया। और अन्त में जो मोक्ष दशामें प्राप्त होने वाले अविनाशी अनन्त सुखके स्वामी बने ॥ ४ ॥

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां,
समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो,
जिनोऽजितक्षुल्लकवादिशासनः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो समस्त कर्म शत्रुओंको जीतकर 'जिन' हुए, जिनका शासन सर्वथा एकान्त पक्षका प्रतिपादन करने वाले अल्पज्ञानी प्रवादियों द्वारा अजेय है, जो केवलज्ञानरूपी नेत्रके धारी हैं, केवलज्ञानरूप पूर्ण विद्या ही जिनके आत्माका शरीर है, जो इन्द्र गणधरादि महान् पुरुषोंके द्वारा पूजित हैं, और कर्म-कालिमासे सर्वथा रहित होकर पवित्र हैं, ऐसे वे १४वें कुलकर नाभिरायके पुत्र, धर्मसे सुशोभित ऐसे सार्थक नामधारी

श्री वृषभदेव महाराज धर्मतीर्थके आदि प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान, मेरे अन्तःकरणको पवित्र करें। विशेषार्थ—श्री समन्त भद्राचार्य भावना कर रहे हैं कि श्री आदिनाथ भगवानकी स्तुति एवं स्वरूप-चिन्तनके प्रमादसे मेरे हृदयको मलिन करने वाली कषाय भावनाएँ शान्त हो जायें ॥ ५ ॥

---

(२) श्री अजितनाथ भगवान की स्तुति

यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य,
क्रीड़ास्वपि क्षीबमुखारविन्दः ।
अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार,
नामाऽजिन इत्यवन्ध्यम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जो स्वर्गलोकसे अवतरित हुए थे और जिनकी बचपनकी क्रीड़ाओंमें भी कुटुम्बीजनोंका मुख कमल हर्षातिरेकसे खिल उठता था, तथा जिनके माहात्म्यसे पृथ्वी पर बन्धुवर्गकी शक्ति अजेयताको प्राप्त हुई- उसे कोई भी जीत नहीं सका अतः बन्धुवर्ग ने उनका 'अजित' ऐसा सार्थक नाम संस्कार किया ॥ ६ ॥

अद्यापि यस्याजितशासनस्य,
मनां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् ।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं,
स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनका शासन सर्वथा एकान्तवादी जन जीतनेमें असमर्थ थे और जो भव्यजीवों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करानेवाले थे। उन श्री अजितनाथ भगवान का पापनाशक पुण्यवर्धक परम पवित्र शुभ नाम असंख्यात काल बीत जाने पर आज भी इस लोकमें अपनी इष्ट सिद्धि (आत्म सिद्धि एवं इच्छित प्रयोजनकी सिद्धि) के इच्छुक जीवोंके द्वारा इष्टकार्यकी सिद्धिमें मंगलके लिये सादर लिया जाता है ॥ ७ ॥

यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्तिभूम्ना,
भव्याशयालीनकलंकशान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो,
यथारविन्दाऽभ्युदयाय भास्वान् ॥ ८ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि कर्मोंके आवरणसे रहित जो महामुनि जगतका उपकार करने वाली अपनी दिव्यवाणी के माहात्म्यसे भव्यजनोंके हृदयोंमें लगे हुए अज्ञानादि दोष व रागादि कलंक तथा इनके कारणीभूत ज्ञाना-

चरणादि कर्मोंके नाशके लिये प्रकाशमान हुए, जैसे बादलोंके आवरणसे रहित सूर्य कमलोंके विकासके लिये अपनी प्रकाशमय शक्तिके साथ प्रकट होता है ॥ ८ ॥

येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं,
ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गम् ह्रदं चन्दनपंकशीतं,
गजप्रवेका इव धर्मतप्ताः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिन्होंने महान एवं सर्वश्रेष्ठ धर्मका प्रतिपादन किया है जो उत्तम क्षमादि दशलक्षण रूप व सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप तथा संसार-समुद्रसे पार करने के लिये तीर्थ रूप है। और जिसका आश्रय लेकर भव्यजन संसार-भ्रमणके क्लेशसे उसी प्रकार छूट जाते हैं, जैसेकि ग्रीष्म ऋतुका तीव्र गर्मीके दुःखसे पीड़ित बड़े२ हाथी चन्दन लेपके समान शीतल, गङ्गाके अगाध जलमें प्रवेश करके सूर्यकी गर्मी जन्य दुःखसे छूटकर शांति पा लेते हैं ॥ ९ ॥

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रु-
र्विद्याविनिर्वान्तकषायदोषः ।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा,
जिन-श्रियं मे भगवान् विधत्ताम् ॥ १० ॥

अर्थ—आत्मस्वभावमें स्थित, शत्रु और मित्रमें समताभाव रखने वाले, सम्यग्ज्ञानके द्वारा क्रोधादि कषायों तथा सर्वदोषोंको पूर्ण रूपसे नष्ट करने वाले, अनन्तज्ञानादिरूप आत्मलक्ष्मीको प्राप्त करने वाले, इन्द्रियविजेता व परमात्मस्वभाव में स्थित ऐसे गुणोंसे विभूषित वह भगवान श्री अजितनाथ महाराज मुझ (समन्तभद्र) को अनन्तज्ञानादि स्वरूप जिन श्रीको प्राप्त करनेमें सहायक बने ॥ १० ॥

---

(३) श्री शम्भवनाथ भगवान की स्तुति

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः,
संतप्यमानस्यजनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो
वैद्यो यथानाथरुजां प्रशान्त्यै ॥ ११ ॥

अर्थ—आप भव्य जीवोंको सुखके कारण हो तथा संसार संबन्धी विषय भोगोंकी तृष्णारूपी रोगोंसे संतप्त जनसमूहके लिये आप इस लोकमें बिना किसी फलको चाहने वाले आकस्मिक ही वैद्य हो। जैसेकि अनाथोंके रोगोंकी शांतिके लिये कोई चतुर वैद्य सहसा आकर सहाई हो जाता है ॥ ११ ॥

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः
प्रसक्तमिथ्याऽध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं,
निरञ्जनां शांतिमजीगमस्त्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ—यह दीखने वाला जगत, जोकि अनित्य है, अशरण है, शरीरकी अवस्थामें अहंकार बुद्धि व पुत्रादि धन आदिमें ममकार बुद्धि रखनेके कारण मिथ्या अभिप्रायके दोषसे दूषित है और जन्म-जरा-मरण से पीड़ित है, उसका (भो शम्भवनाथ !) आपने कर्म कलङ्कके उपद्रवसे रहित सच्ची शांति की प्राप्त कराई है ॥ १२ ॥

शतह्रदोन्मेष-चलं हि सौख्यं,
तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं
तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥ १३ ॥

अर्थ—निश्चयसे इन्द्रिय विषयोंका सुख बिजलीकी चमकके समान क्षणभर भी स्थिर रहने वाला नहीं है। तृष्णारूपी रोगके बढ़ानेका एकमात्र कारण है। इन्द्रिय विषयोंके सेवनसे तृप्ति न होकर उल्टी तृष्णा बढ़ जाती है। तृष्णाकी बढ़वारी निरन्तर संताप उत्पन्न करती है

और वह ताप इस जगतको अनेक दुःखोंकी परम्परासे पीड़ित करता रहता है। ऐसा आपने (पीड़ित जनता को उसके दुःखका सच्चा निदान बताते हुए) उपदेश दिया है ॥ १३ ॥

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू,
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं,
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥ १४ ॥

अर्थ—बन्ध और मोक्ष, बन्ध और मोक्षके कारण, कर्मपुद्गलोंसे बंधने वाला जीव और छूटने वाला जीव तथा मुक्तिका फल, अपने अनन्तज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति इन सब तत्त्वोंकी व्यवस्था हे प्रभो! आप अनेकान्त-दृष्टिके मतमें ही ठीक ठीक बैठती है, सर्वथा एकान्त-वादियोंके मतोंमें नहीं। इसलिये आप ही तत्त्वके यथार्थ उपदेष्टा हैं ॥ १४ ॥

शक्रोऽप्यशक्तस्तवपुण्यकीर्तेः,
स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः।
तथापि भक्त्या स्तुत-पाद-पद्मो,
ममार्य देया शिवतातिरुच्चैः ॥ १५ ॥

अर्थ—आप निर्मल कीर्तिधारी है, आपकी स्तुति में प्रवृत्त हुआ सर्व श्रुतज्ञान धारी एवं अवधिज्ञानादि की शक्तिसे सम्पन्न, इन्द्र भी पूर्णरूपसे स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है, फिर मेरे जैसा अज्ञानी तो आपकी स्तुति करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ? परन्तु असमर्थ होते हुए भी मेरे द्वारा आपके चरणकमल भक्ति पूर्वक स्तुति किये गये हैं। अतः गुणोंका आश्रय करने वाले परमप्रभो ! मेरे लिये ऊँचे दर्जेका कल्याण परम्परा प्रदान कीजिये। अर्थात् मैं उसको प्राप्त करनेका पात्र हूं ॥ १५ ॥

---

(४) श्री अभिनन्दननाथ भगवान की स्तुति

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्,
दयावधूं क्षांतिसखीमशिश्रियत्।
समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये,
द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥ १ ॥

अर्थ—आपके जन्म लेते ही लोकमें सुखादि गुणों की बढ़वारी हो जानेसे आप 'अभिनन्दन' इस सार्थक नामके धारी हो। आपने क्षमासखी वाली दयावधूको अपनाया है। हे जिनेन्द्र ! आप आत्मध्यानमें लीन हैं

और उस आत्मध्यानकी प्राप्तिके लिये ही आपने बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहको छोड़कर अपनेको निर्ग्रंथपनेके गुणसे सुशोभित किया है ॥ १६ ॥

अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि च,
ममेदमित्याभिनिवेशिकग्रहात्।
प्रभंगुरे स्थावरनिश्चयेन च,
क्षतं जगत्तत्वमजिग्रहद् भवान्॥ १७ ॥

अर्थ—अचेतन (जड़) शरीरमें और शरीर संबंधसे पैदा होने वाले सुख दुःखादिक तथा स्त्री पुत्रादिकमें 'यह मेरे हैं मैं इनका हूं' इस प्रकारके मिथ्या अभिप्रायको लिये हुए होनेसे तथा क्षणभंगुर पदार्थोंमें नित्य बने रहनेका निश्चय कर लेनेके कारण जगतके प्राणी कष्ट उठा रहे हैं उन्हें आपने जीवादि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप बतलाकर सच्चे मार्ग पर लगाया है ॥ १७

क्षुधादि-दुःख-प्रतिकारतः स्थिति-
र्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनो
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत्॥ १८ ॥

अर्थ—भूख-प्यास आदिके दुःखोंको मिटानेके लिये भोजन पात्रादिका सेवन करनेसे और इन्द्रियके विषय

भोगोंसे उत्पन्न होने वाले अति थोड़े एवं अतृप्तिकारी क्षणिक सुखके सेवनसे इस शरीरधारी जीवकी स्थिति शरीरमें सदा नहीं रहती और न तृप्ति ही होती है। ऐसी दशामें क्षुधादि दुःखोंके इस क्षणस्थाई प्रतिकार और इन्द्रिय-विषयजन्य अल्पसुखके सेवनसे न तो वास्तव में इस शरीरका कोई उपकार बनता है और न शरीर-धारी जीवका ही कुछ भला होता है। इस प्रकार हे भगवन्! आपने मिथ्या भ्रमके चक्करमें पड़े हुए जगत को रहस्यकी यह सब बात समझाई है॥ १८॥

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो,
भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित्,
कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत्॥ १९॥

अर्थ—अत्यन्त आसक्तिके वशसे विषयसेवनमें अत्यन्त लोलुपी भी मनुष्य इस लोकमें राजदण्डादिके भयसे दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति नहीं करता, फिर जो मनुष्य इस लोक तथा परलोकमें होनेवाले विषयासक्ति के भयंकर परिणामों को भले प्रकार जानता है वह कैसे विषय सुखमें आसक्त हो सकता है? नहीं हो सकता, ऐसा आपने जगतको उपदेश किया है॥ १९॥

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्,
तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं,
ततो भवानेव गतिः सतां मतः॥ २०

अर्थ—इन्द्रिय भोगोंमें आसक्तपना और तृष्णाकी बढ़वारी दोनों ही इस लालुपी प्राणीके लिये दुःखदाई हैं। इन्द्रिय विषयजन्य थोड़ेसे सुखके मिलने पर भी इस प्राणीकी स्थिति सुखमय नहीं होती, प्रत्युत उसका सताप बढ़ जाता है। इस प्रकार जगतके लोगोंका उपकार करने वाला चूंकि आपका शासन है, इसलिये हे अभिनन्दन प्रभो! आप ही जगतके शरणभूत हैं, ऐसा सत्पुरुषों ने माना है॥ २०॥

---

(५) श्री सुमतिनाथ भगवान की स्तुति

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं,
स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम्।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति,
सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः॥ २१॥

अर्थ—शोभनीक ज्ञानके स्वामी होनेसे हे सुमति मुनि! आप अपने नामके समान यथार्थ अर्थको रखने

वाले हो। आपने बिना किसीके उपदेशके उस अनेका-न्तात्मक वस्तु धर्मको माना है जो अकाट्य युक्तियोंके द्वारा सिद्ध है। इसीसे ही आपके मतसे बाह्य एकान्त-वादियोंके मतमें संपूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता आदि कारकों के स्वरूपकी सिद्धि नहीं बनती ॥ २१ ॥

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं,
भेदाऽन्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे,
तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जीवादि तत्त्व अनेक स्वभावरूप तथा एक-रूप है। अर्थात् पर्यायकी दृष्टिसे अनेकरूप है तो वही द्रव्यकी दृष्टिसे एकरूप है। यह वस्तुको भेद-अभेद रूप से (पर्याय और द्रव्यदृष्टिसे) ग्रहण करने वाला ज्ञान ही सत्य है। जो लोग इनमेंसे एकको ही सत्य मानकर दूसरे में उपचार का व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है। क्यों कि दोनों में से एक किसी स्वभाव का अभाव मानने पर दूसरेका भी अभाव हो जाता है। क्योंकि द्रव्य, पर्यायके बिना नहीं रहता और पर्याय, द्रव्यके बिना नहीं रहती। इस प्रकार दोनोंका अविनाभावी सम्बन्ध है। दोनोंका अभाव होजानेसे वस्तुकथनके अभावका प्रसङ्ग आ उपस्थित होता है ॥ २२ ॥

मतः कथंचित्तदसत्वशक्तिः,
खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं,
स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो मत है उसके कथंचित् असत्वशक्ति भी होती है अर्थात् स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा जहां वस्तुतत्व सत्रूप है वहां परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा वह असत् रूप भी है। इस प्रकार वस्तुतत्व कथंचित् सत्रूप और कथंचित् असत्रूप है। जैसे फूल वृक्षों पर होनेसे प्रसिद्ध है-सत्रूप है। परन्तु आकाशमें नहीं है, आकाश की अपेक्षा वह असत्रूप है। इसलिये तत्व अस्तिरूप भी है नास्तिरूप भी है। यदि वस्तुतत्व में अस्तित्व-नास्तित्व आदि स्वभावों का सर्वथा अभाव माना जाय, तो वह अप्रमाण ठहरता है। इसीसे (हे सुमतिनाथ!) आपकी अनेकान्तात्मक-दृष्टि से बाह्य जो एकान्तमत है वह स्ववचनविरुद्ध है।

विशेषार्थ—सत्वाद्वैतवादी के यहां प्रमाणसे सिद्ध करने पर द्वैत का प्रसङ्ग आनेसे अद्वैतता भंग होजाती है और शून्यतैकान्तवादीके यदि प्रमाणका अस्तित्व मानते हैं तो सर्वशून्यता नहीं बनती। और प्रमाणका अस्तित्व नहीं माननेसे स्वपक्ष का साधन और परपक्षका दूषण नहीं बन पाता अतः वह निराधार है।

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति,

न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।

नैवासतो जन्म सतो न नाशो,

दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥ २४ ॥

अर्थ—वस्तुतत्त्वका सर्वथा (द्रव्य और पर्याय दोनों रूपसे) नित्य मान लेने पर उसमें नूतन पर्यायका उत्पाद और पूर्व पर्यायका विनाश नहीं बन सकता, और न उसमें क्रिया-कारककी ही व्यवस्था बन सकती है। अर्थात् न तो गमन आदि क्रिया हो सकती है न कोई कर्ता-कर्मादिरूप कारक ही सिद्ध हो सकते हैं। जो जैसा है वह वैसा ही रहेगा। जैसे सर्वथा नित्य माननेमें उत्पत्ति व विनाश नहीं बनता है वैसे ही सर्वथा क्षणिक माननेसे भी नहीं बन सकता। क्योंकि जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म हो नहीं सकता और जो सर्वथा सत् है उसका कभी नाश नहीं हो सकता, (यदि यह कहा जाय कि विद्यमान दीपप्रकाशका तो बुझने पर अभाव हो जाता है, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि सत् का नाश नहीं होता ? इसका समाधान यह है कि) दीपक बुझने पर अंधकार रूप पुद्गल-पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है।

विशेषार्थ—प्रकाश और अंधकार दोनों पुद्गलकी पर्याय हैं। प्रकाशरूप पर्यायके अभाव में अंधकाररूप

पर्याय की स्थिति बनी रहती है, मात्र पर्याय पलटती है, वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं होता।

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ,
विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं,
मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥ २५ ॥

अर्थ—विधि और निषेध दोनों कथंचित् (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंसे) मान्य हैं, सर्वथारूपसे नहीं। द्रव्यकी अपेक्षा वस्तु सत् है पर्यायकी अपेक्षा वही वस्तु असत् भी है। एकको मुख्य करना दूसरेको गौण करना ऐसी व्यवस्था कहनेवालेकी इच्छाके अनुसार चलता है। उदाहरणके तौर पर द्रव्यदृष्टिसे जब नित्यत्व प्रधान होता है तो पर्यायदृष्टिका विषय अनित्यत्व गौण होता है और पर्यायदृष्टिसे जब अनित्यत्व मुख्य होता है तब द्रव्यदृष्टि का विषय नित्यपना गौण हो जाता है।

इस प्रकारसे हे सुमतिनाथ भगवान! आपकी यह तत्वके प्रतिपादन करनेकी शैली है। हे भगवन्! आपकी स्तुति करनेसे मेरे (समन्तभद्रके) ज्ञान का पूर्ण विकास होवे ॥२५॥

(६) श्री पद्मप्रभ भगवान की स्तुति

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः,
पद्मालयालिंगितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां,
पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥ २६ ॥

अर्थ—कमलकी प्रभाके समान प्रभाधारी हे श्री पद्मप्रभदेव ! आप सफेद कमल पत्रके समान शुक्ललेश्याके धारी हैं और लाल कमल पत्रके समान द्रव्यलेश्याके (लालवर्णके) धारक हैं । आपकी सुन्दर मूर्तिको लक्ष्मी ने आलिङ्गन कर लिया है (आत्ममूर्तिको अनन्तज्ञानादि-लक्ष्मी ने तथा शरीरमूर्तिको पसेव रहितपनारूप १००८ लक्षणपना आदि लक्ष्मीने आलिंगन किया है)। और आप भव्यरूप कमलोंका आत्मविकाश करनेके लिये उसी तरह भासमान हुए हैं जैसे कि सूर्य कमलसमूहोंका विकास करता हुआ सुशोभित होता है ॥ २६ ॥

बभार पद्मां च सरस्वतीं च,
भवान् पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां,
सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितां विमुक्तः ॥ २७ ॥

अर्थ—अरहन्त अवस्थासे पहले आपने लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंको धारण किया था। बादको अरहन्त अवस्था प्राप्त करने पर आपने उस पूर्णशोभा वाली सरस्वती (दिव्यवाणी) को ही धारण किया था जो सर्वज्ञ-लक्ष्मीसे सदा प्रदीप्त थी ॥ २७ ॥

शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते,
बालार्करश्मिच्छविरालिलेप ।
नरामराकीर्णसभां प्रभाव-
च्छैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥ २८ ॥

अर्थ—हे पद्मप्रभ ! प्रातःकालके सूर्य की किरणोंकी छविके समान लालवर्णकी प्रभाको लिये हुए आपके शरीरकी किरणोंके फैलावने मनुष्य तथा देवोंसे भरी हुई समवसरण-सभाको इस तरह व्याप्त कर लिया जिस तरह कि पद्मरागमणि-पर्वतकी प्रभा अपने किनारेके भागको व्याप्त कर लेती है। ॥ २८ ॥

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं,
सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः ।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो,
भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥ २९ ॥

अर्थ—(हे पद्मप्रभदेव !) आपने कामदेवके घमण्ड को चूर चूर कर डाला और एक हजार पत्रधारी कमलों के मध्यभाग पर चलने वाले अपने चरण-कमलोंके द्वारा आकाशके प्रदेशोंको कमलके पत्तोंकी शोभा से व्याप्त-जैसा करते हुए प्रजाके आत्मकल्याणके लिये इस आर्यक्षेत्र में आपने विहार किया ॥२९॥

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्य,
नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः।
प्रागेव मादृक्किमुतातिभक्तिर्मां
बालमालापयतीदमित्थम् ॥३०॥

अर्थ—हे ऋषिवर ! आप पुनर्जन्मसे रहित हैं, आपके गुणसमुद्रके एक अंश मात्रकी भी स्तुति करनेके लिये जब इन्द्र पहले ही से समर्थ नहीं हुआ है, तो फिर अब मेरे जैसा असमर्थ प्राणी कैसे समर्थ हो सकता है ? परन्तु आपके प्रति यह जो मेरी परमभक्ति है वही स्तुति-विषय में अनभिज्ञ मुझ बालकको आप ऐसे हैं व इस प्रकार हैं ऐसा स्तवन करनेके लिये प्रेरणा करती है ॥३०॥

---

(७) श्री सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां,
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
तृषोनुषंगान्न च तापशान्ति-
रितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥३१॥

अर्थ—जो कर्मादिमलसे छूटकर अपने अनन्त-ज्ञानादि स्वरूप स्वात्मामें अत्यन्त अविनाशी स्थिति है यही जीवात्माओंका निजी (सच्चा) प्रयोजन है। क्षणभंगुर इन्द्रिय सुखोंका भोग निजी प्रयोजन नहीं है। क्योंकि भोगोंके भोगनेसे भोगाकांक्षाकी बढ़वारी होती जाती है और उससे चाहकी दाह शांत नहीं होती है। यह स्वार्थ का सच्चा स्वरूप परम शोभनीक शरीरके अङ्गोंके धारक श्री सुपार्श्वनाथ भगवान ने बतलाया है ॥३१॥

अजङ्गमं जंगमनेययन्त्रं,
यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च,
स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥३२॥

अर्थ—जैसे जड़ यन्त्र (हाथी, घोड़ा, मशीन आदि) जंगमपुरुष (चलाने वाले पुरुष) के द्वारा चलाया जाता

है उसी प्रकार जीवके द्वारा धारण किया हुआ यह शरीर जड़ है। चैतन्य जीवकी प्ररणासे काममें प्रवृत्ति करता है। साथ ही यह शरीर अति घिनावना है, दुर्गन्धमय है, नाशवान है, दुःखोंका कारण है। इस शरीरमें राग करना वृथा है ऐसी हितकी शिक्षा आपने दी है ॥ ३२ ॥

आपके द्वारा आत्म हितका उपदेश मिलने पर भी संसारी जीवों की आत्म हितमें प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? इसका उत्तर—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं,
हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः
संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३३॥

अर्थ—कर्मका शुभ व अशुभ उदयरूप अन्तरंग कारण और अनुकूल व प्रतिकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के मिलनेरूप बाह्य कारण, इन दोनों कारणोंके संयोगसे उत्पन्न होने वाला सुख दुखरूप कार्य ही जिसका लक्षण है ऐसा यह कर्मोंका तीव्र उदय (होनहार) किसी तरह भी टाले नहीं टलता। यानी आत्मकल्याणकारी उपदेशके मिलनेपर भी आत्मकल्याणमें प्रवृत्त नहीं होने देता। अहंकारसे पीड़ित हुआ संसारी जीव सुखादिक रूप कार्यकी प्राप्तिके लिये अनेक सहकारी कारण जुटाता है फिर भी सफल नहीं होता। अर्थात् कर्मोदयके सहाई न

होनेके कारण अहंकार रखा ही रह जाता है, ऐसा आपने यथार्थ उपदेश दिया है ॥३३॥

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो।
नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो,
वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥ ३४ ॥

अर्थ—संसारी प्राणी मौत से सदा डरता रहता है परन्तु (चाहने मात्र से) उस मृत्युसे छुटकारा नहीं, नित्य ही कल्याण या मोक्ष चाहता है परन्तु (कर्मवश) उसका लाभ नहीं होता। फिर भी यह मूढ़ प्राणी भय और इच्छाके वशीभूत हुआ अपने आप व्यर्थ में ही दुखी होता रहता है। ऐसा आपने उपदेश दिया है ॥३४॥

विशेषार्थ—डरने तथा चाहनेमात्रसे कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती उलटा दुख ही मिलता है। आत्मार्थी प्राणीको कर्मोका क्षय करनेके लिये सदव प्रयत्नपूर्वक धर्म का सेवन करना चाहिये, क्योंकि कर्मही इष्ट कार्यकी सिद्धिमें बाधक हैं ॥ ३४ ॥

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता,
मातेव बालस्य हितानुशास्ता।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता,
मयाऽपि भक्त्या परिणूयतेऽद्य ॥३५॥

अर्थ—आप जीवादि विश्व तत्त्वोंके संशयादि रहित ज्ञाता हैं। जैसे माता बालक को हितकारी शिक्षा देती है उसी तरह आप अज्ञानी भव्य जीवोंको हित (आत्म-हित) का उपदेश देने वाले हैं। और आप ही सम्यग्दर्शनादि गुणोंके खोजी भव्यजनको गुणोंकी प्राप्तिका यथार्थ मार्ग दिखाने वाले हैं। इसीसे मैं भी इस समय भक्तिपूर्वक आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ हूं। अर्थात् आपकी स्तुति करनेसे मुझे भी आत्मीय गुणोंकी प्राप्ति का मार्ग सूझ पड़ा है ॥ ३५ ॥

विशेषार्थ—आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन वीतराग भगवान्‌की सच्ची भक्ति करना है।

---

(८) श्री चन्द्रप्रभ भगवान की स्तुति

चंद्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं,
चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं,
जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—चन्द्रमाकी किरण समान गौरवर्णके धारी, संसारमें दूसरे चन्द्रमाके समान प्रकाशमान, महात्माओं

के द्वारा पूजने योग्य, गणधरादिकोंके स्वामी, कर्मोंको जीतने वाले तथा अपने अन्तःकरणके क्रोधादि रूप कषायोंके बन्धनको जीतने वाले ऐसे श्री चन्द्रप्रभ (चन्द्रमा के समान प्रभाधारी होनेसे 'चन्द्रप्रभ' इस सार्थक नामके धारक) भगवानको मैं (समन्तभद्र) बन्दना करता हूं ॥ ३६ ॥

यस्याङ्ग-लक्ष्मी-परिवेश-भिन्नं,
तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्यं बहुमानसं च,
ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिनके शरीरके दिव्य प्रभामण्डल द्वारा बाहरी अन्धकार और परम शुक्लध्यानमई दीपकके तेज द्वारा अन्तःकरणका समस्त अज्ञान अन्धकार उसी प्रकार नाशको प्राप्त हुआ जिस प्रकार कि सूर्यकी किरणोंके द्वारा अन्धकार छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥

स्वपक्ष-सौस्थित्य-मदाऽवलिप्ता,
वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा,
गजा यथा केशरिणो निनादैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिनके वचनरूपी (दिव्यध्वनिरूप) सिंहनादों को सुनकर अपने पक्षकी श्रेष्ठताका घमण्ड रखने वाले अन्य मतवाले उसी प्रकार मद रहित हो गए, जिस प्रकार कि मदसे भीगे हुए कपोलोंको रखने वाले मस्त हाथी सिंहकी गर्जनाओंको सुनकर मदरहित हो जाते हैं ॥ ३८ ॥

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः,
पदं बभूवाऽद्‌भुतकर्मतेजाः ।
अनन्तधामाऽक्षर-विश्वचक्षुः,
समन्तदुःखक्षयशासनश्च ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिन्होंने शुक्लध्यानमई अग्निके द्वारा कर्मोंको भस्मीभूत किया था, तथा अनन्त तेजरूप अविनाशी विश्वतत्त्वोंको एक साथ देखने में समर्थ ऐसे केवलज्ञानको प्राप्त किया था और जिन्होंने समस्त कर्मों का क्षय करने वाले सच्चे मोक्षमार्गका यथार्थ उपदेश दिया था इस प्रकारके गुणोंके धारण करनेके कारण जो तीनों लोकोंमें परम आप्तताके पदको प्राप्त हुए थे ॥३९॥

स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां,
विपन्नदोषाऽभ्र-कलंक-लेपः ।

व्याकोश-वाङ्न्याय-मयूख-मालः,
पूयात् पवित्रो भगवान्मनो मे ॥ ४० ॥

अर्थ—वे सर्व रागादिक दोषरूप मेघकलङ्कके आवरण से रहित सुस्पष्ट वचनों (दिव्यध्वनि) की रचनारूप (स्याद्वादरूप) किरण समूह सहित भव्यजीवरूपी कुमुदनियों को विकसित करनेके लिये चन्द्रमा, ऐसे पवित्र भगवान श्रीचन्द्रप्रभ जिन मेरे मनको पवित्र करो। अर्थात् मैं यही भावना भाता हूं कि आपकी पवित्र स्तुति करनेसे आपके समान मेरा मन सर्व रागादिक दोष रहित होकर पवित्र हो जावे ॥४०॥

(९) श्री पुष्पदन्त (सुविधि) भगवानकी स्तुति

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं,
प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे ! स्वधाम्ना,
नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे सुविधि (शोभनीक मोक्ष प्राप्तिका विधान प्रतिपादन करनेके कारण सार्थक नामके धारक) जिन ! आपने अपने केवलज्ञानरूपी तेजसे उस, प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों

से सिद्ध, जीवादिक तत्त्वका प्रतिपादन किया है जो अस्ति-नास्ति आदि अनेक स्वभावरूप है। अनेकान्तात्मक होनेसे एकान्त मान्यताका निषेध करने वाला है। यह सम्यक् अनुभूत (अनेकान्तात्मक) तत्त्वका प्रतिपादक पद आपसे भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले दूसरे मत प्रवर्तकोंके द्वारा प्रतिपादन किया हुआ नहीं है ॥४१॥

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्
तथा प्रतीतेस्तव तत्कथंचित्।
नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च,
विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—वस्तु कथंचित् (स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा) भावस्वरूप है उसी समय कथंचित् (परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा,) अभावस्वरूप है। क्योंकि भाव-अभाव स्वभावों से गुम्फित वस्तुकी प्रतीति होती है। स्वचतुष्टयरूप विधि और परचतुष्टयरूप निषेध दोनों में सर्वथा भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है क्योंकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता मानने पर वस्तु तत्त्वके लोप का प्रसंग आ उपस्थित होता है ॥४२॥

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते-
र्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः।

न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्ग-

निमित्त-नैमित्तिक-योगतस्ते ॥ ४३ ॥

अर्थ—'यह वही है' ऐसी प्रतीति होती है अतः वस्तु नित्य है। और 'यह वह नहीं अन्य है,' ऐसी प्रतीति होती है अतः वही वस्तु अनित्य है। एक ही वस्तुतत्त्वको एक ही काल में नित्य और अनित्य दोनों रूप कहना आपके शासन में विरोध रूप नहीं है। क्योंकि बाह्य कारण जो निमित्त कारण तथा अन्तरङ्ग कारण जो उपादान कारणके समान ही जगत मे कार्य होता है। अर्थात् द्रव्यस्वरूप अन्तरङ्ग कारणकी अपेक्षा वस्तु नित्य है और क्षेत्रादिरूप बाह्य कारण तथा पर्याय रूप कार्यकी अपेक्षा वस्तु अनित्य है ॥४३॥

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं,

वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या।

आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो,

गुणाऽनपेक्षे नियमेऽपवादः ॥ ४४ ॥

अर्थ—शब्दका वाच्य स्वभावसे ही एक और अनेक दोनों ही होते हैं। अर्थात् अभेद विवक्षाके होने पर एकरूप तथा भेद विवक्षाके होने पर अनेक रूप अर्थ का बोध होता है। वृक्षाः इस पदज्ञान की तरह। कहने

वाला (वक्ता) वस्तुके अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यतासे वचन प्रयोग करता है परन्तु उसी समय शेष धर्मों के द्योतक 'स्यात्', शब्दका साथमें प्रयोग करता है। जिसका अभिप्राय यह है कि यहां पर विवक्षित धर्मकी मुख्यता और शेष धर्मों का गौणता है। इसीलिए गौण धर्मोंका द्योतक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्योंके साथ उच्चारण न करने पर भी गुप्तरूपसे सम्बद्ध रहता है। "स्यात्" शब्द का तात्पर्य "किसी अपेक्षासे" है। वस्तु तत्त्वके गौण धर्मों की अपेक्षा न रखने वाले सर्वथा एकान्तवादियोंके मतमे "स्यात्" शब्दका साथमें प्रयोग उनके सर्वथा एकान्तके नियमको चरितार्थ नहीं होने देता।

विशेषार्थ—वाक्यके साथ "स्यात्" शब्दका प्रयोग करनेका यह अभिप्राय है कि वह वस्तुके विवक्षित धर्म को मुख्यतासे तथा उसी समय दूसरे धर्मों का गौणतासे बताता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्दका वाच्य एक और अनेक दोनों रूप होता है। जैसे "वृक्षाः" ऐसा कहनेसे जहाँ वृक्षत्व सामान्यका ज्ञान होता है वहां वृक्ष विशेषों का भी ज्ञान होता है। वृक्ष जातिकी अपेक्षा इसका वाच्य एक है और वृक्ष विशेषकी-आम अनार, शीशम आदिकी-अपेक्षा इसका वाच्य अनेक है, क्योंकि सभी वृक्षों में

सामान्य और विशेष दोनों धर्म रहते हैं। इसी प्रकार द्रव्य और पर्यायकी विवक्षा-अविवक्षामें समझना लेना चाहिये। द्रव्य सामान्यकी अपेक्षा वस्तु एक रूप है तो वही उसी समय पर्यायों की अपेक्षा अनेकरूप है। दोनों में जिस समय जिसको कथन करनेकी इच्छा होती है वह मुख्य और दूसरा गौण कहलाता है। एकान्तवादियों के यहां ऐसी व्यवस्था बन नहीं पाती है अतः वस्तुकथनमें बाधा उपस्थित होती है ॥ ४४ ॥

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं,
जिनस्य ते त्वद्द्विषतामपथ्यम्।
ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां,
ममाऽपि साधोस्तव पादपद्मम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—"स्यात्" शब्दसे कहा गया वाक्य, वस्तुतत्त्व के गौण व मुख्य दोनों धर्मों को जतलानेके लिये है। आपसे विरोध रखनेवाले सर्वथा एकान्तवादियों के लिये (दोनो धर्मों का सर्वथा एकान्त स्वीकार करनेसे) यह आपका एकान्त खंडन व अनेकान्त मंडनरूप वाक्य इष्ट नहीं है। चूंकि आपने यथार्थ वस्तु स्वभाव का प्रतिपादन किया है इसलिये हे साधो! आपके चरणकमल इन्द्र नरेन्द्रादि द्वारा वन्दनीय हैं, और मेरे भी द्वारा वन्दनीय हैं ॥ ४५ ॥

(१०) श्री शीतलनाथ भगवान की स्तुति

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो,
न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघ वाक्यरश्मयः,
शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—हे निर्दोष श्रीशीतल भगवन् । आप प्रत्यक्ष-ज्ञानी मुनिकी परम शान्त जलसे भरी हुई वचनरूपी किरणें भेदज्ञानी पंडितोंके लिए संसारताप नाश करनेके हेतु जैसी शीतल (सुख-शान्ति देनेवाली) होती हैं, वैसी चन्दन तथा चन्द्रमाकी किरणें शीतल नहीं हैं, न गंगाका पानी शीतल है, और न मोतियोंके हारकी मालाएं ही शीतल हैं। अर्थात् ये शीतल पदार्थ मात्र शारीरिक तापको भले ही हरलें, परन्तु इनमें से कोई भी संसारतापजन्य दुःखको मिटानेमें समर्थ नहीं हैं यह शक्ति तो आपके वचनरूपी किरणोंमें ही है। अतः सच्ची सुखशान्ति प्रदान करनेके कारण सार्थक नामधारी आप ही हो ॥ ४६ ॥

सुखाऽभिलाषाऽनलदाहमूर्च्छितं,
मनो निजं ज्ञानमयाऽमृताऽम्बुभिः,
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाह-मोहितं,
यथाभिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—जैसे वैद्य विष-दाहसे मूर्छित हुए अपने शरीरको विषके दूर करनेवाले मंत्रोंके गुणोंसे विष रहित कर देता है, उसी प्रकार आपने इन्द्रिय विषय सुखोंकी चाह रूपी अग्निकी जलनसे मूर्च्छाको प्राप्त (हेयोपादेयके ज्ञानसे शून्य) हुए अपने मनको ज्ञानमय अमृतजलोंके सिञ्चनसे मूर्च्छा रहित करके शान्त किया है ॥ ४७ ॥

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया,
दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः ।
त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवान-
जागरेवाऽऽत्मविशुद्धवर्त्मनि ॥ ४८ ॥

अर्थ—संसारी जीव अपने जीवनका बनाए रखनेकी तथा इन्द्रियोंके सुख भोगनेकी तृष्णाके वशीभूत हुए दिनमें ता परिश्रम करनेसे खेद-खिन्न रहते हैं और रात्रि में सो जाते हैं। परतु हे आर्य श्री शीतलनाथ तीर्थंकर आप प्रमादको बिलकुल छोड़ करके रातदिन आत्माको विशुद्ध करनेवाले मार्गमें जागते ही रहे हैं। अर्थात संसारीजीव अपने जीवनके अमूल्य-क्षणोंको तृष्णाके वशीभूत होकर अशांतिके मार्गमें गंवा देते हैं और आत्मकल्याणकी ओरसे बेखबर रहते हैं अतः सच्ची शान्ति की प्राप्ति से वञ्चित रहजाते हैं। सच्ची शांतिके इच्छुकों को आपके समान प्रमाद रहित होकर रात दिन आत्महित करनेमें सावधान रहना चाहिये ॥ ४८ ॥

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया,
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्म-जरा-जिहासया,
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥ ४९ ॥

अर्थ—कितने ही (अज्ञानी) तपस्वी जन संतान, धन तथा परलोकके सुखकी तृष्णाके वशीभूत होकर धार्मिक क्रियाकाण्डरूप कर्म करते हैं परंतु आपने ममता धारण कर पुनर्जन्म और जराको दूर करनेकी इच्छासे मन-वचन-काय तीनोंकी प्रवृत्तिको ही रोक दिया। अर्थात् सांसारिक सुखोंके इच्छुक धार्मिक अनुष्ठान करनेपर भी संसारमें ही भ्रमते रहते हैं क्योंकि जैसा उनका लक्ष्य है वैसा ही फल प्राप्त करते हैं। जन्म-जरा-मरणके न चाहने वालोंको आपके समान त्रिगुप्ति धारण कर आत्महित करनेमें ही तन्मय रहना चाहिये ॥ ४९ ॥

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः,
क्व ते परे बुद्धिलवोद्धव-क्षताः ।
ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरै,
र्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे ॥ ५० ॥

अर्थ—हे श्री शीतलनाथ जिनेन्द्र ! कहाँ तो आप परमोत्कृष्ट केवलज्ञानके धनी, पुनर्जन्मसे रहित तथा परम-

सुखी ! और कहाँ वे दूसरे तनिकर्मी बुद्धिके अहंकारसे नाश को प्राप्त होने वाले ! कितना महान् अन्तर है ! इसीलिये अपने आत्मकल्याणकी प्राप्तिकी भावनामें तत्पर गणधरादिक देवोंके द्वारा आप पूजे जाते हैं ॥ ५० ॥

(११) श्री श्रेयांसनाथ भगवान की स्तुति

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः,
श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः ।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मिन्,
न्नेको यथा वीतघनो विवस्वान् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मेघावरण रहित सूर्य एक अकेला ही अपनी तेजमयी किरणोंसे अंधकार नष्ट कर जीवोंको सन्मार्ग सुझाता हुआ जगतमें शोभाको प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्म-शत्रुओंको जीतनेवाले हे श्री श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र ! आप अपने अबाधित वचनों द्वारा इन भव्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हुए आप अकेले ही इस तिहुंलोकमें शोभा को प्राप्त हुए ॥ ५१ ॥

विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूपः,
प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम् ।
गुणो परो मुख्यनियामहेतु-
र्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥ ५२ ॥

अर्थ — आपके दर्शनमें स्वस्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप तथा पर स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप इन दोनों धर्मोंको एक साथ एक काल ही रखने वाला पदार्थ है और उन दोनों धर्मोंको एक साथ बताने वाला ज्ञान प्रमाणका विषय होनेसे प्रमाण है। तथा इन विधि-प्रतिषेध दोनों में से कोई एक (वक्ताके अभिप्रायानुसार) प्रधान (मुख्य) और दूसरा गौण होता है। इन विधि-निषेध दोनों धर्मों में से किसी एकको मुख्य करके तथा दूसरेको गौण करके बतानेके नियमका साधक जो हेतु है वह नय है। और वह नय दृष्टान्त से समर्थित अथवा दृष्टान्त का समर्थन करने वाला होता है।

विशेषार्थ—अनन्त गुणात्मक समस्त ही वस्तु प्रमाणका विषय है अतः प्रमाणमें वस्तुके सभी धर्मोंकी मुख्यता रहती है। द्रव्यके अनन्त गुणोंमेंसे कोई सा एक विवक्षित अंश नयका विषय है। नयमें जिस धर्मका नाम लिया जाता है केवल वही धर्म मुख्य होता है और शेष धर्म गौण समझे जाते हैं। दोनोंमें विषय विशेषकी अपेक्षा से भेद है। वस्तुतः ज्ञानकी अपेक्षा से दोनोंमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि ज्ञान विशेष तो दोनों ही हैं॥ ५२॥

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो,
गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।

तथाऽरिमित्राऽनुभयादिशक्ति-
द्वयाऽवधेः कार्यकरं हि वस्तु ॥ ५३ ॥

अर्थ—आपके मतमें, प्रधान करके जिसको कहने की इच्छा होती है वह मुख्य कहलाता है, तथा दूसरा जिसको कहनेकी इच्छा नहीं होती है वह गौण कहलाता है। परन्तु वह गौण धर्म अभावरूप नहीं होता। उसकी सत्ता उस समय गौणरूपसे अवश्य रहती है। इस प्रकार मुख्य गौण की व्यवस्थासे एक ही वस्तु शत्रु, मित्र और अनुभयादि अनेक शक्तियोंको लिये रहती है। जैसे कोई व्यक्ति किसीका उपकार करनेके कारण मित्र है, वही किसीका बुरा करनेके कारण शत्रु है, वही किसी अन्य व्यक्तिका उपकार-अपकार करनेसे शत्रु-मित्र दोनों है और जिनसे उसने उपेक्षा धारण कर रखी है उसका न शत्रु है न मित्र है। इस प्रकार उसमें शत्रु-मित्रतादिके गुण एक साथ पाये जाते हैं। वस्तुतः वस्तु विधि-निषेध रूप दो दो सापेक्ष धर्मोंका अवलम्बन लेकर ही अर्थ क्रिया करनेमें कार्यकारी होती है ॥ ५३ ॥

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे,
साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्तनियामदृष्टं,
त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥ ५४ ॥

अर्थ—वादी प्रतिवादी दोनोंके बीच में किसी बात की सिद्धिमें विवाद हो जाने पर उदाहरणकी सिद्धिका निर्णय होते ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है। परन्तु ऐसी कोई दृष्टान्त वाली वस्तु नहीं है जो सर्वथा एकान्त का नियामक दिखाई देती हो, क्योंकि आपकी अनेकान्त-दृष्टि सबमें अपना प्रभाव डाले हुए है। यों अनेकान्तका साम्राज्य सर्वत्र छा रहा है क्योंकि वस्तु मात्र अनेकान्तात्मक है ॥ ५४ ॥

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धि,-
न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।
असिस्म कैवल्य-विभूति-सम्राट्,
ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥ ५५ ॥

अर्थ—हे अर्हन् ! आप एकान्त मतके प्रतिषेधकी सिद्धिरूप न्यायके बाणोंसे मोहशत्रुका नाश करके कैवल्य-विभूतिके सम्राट् हुए हैं। इसीसे आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं। अर्थात् मैं भी कैवल्य विभूतिका सम्राट बनना चाहता हूं, इसीलिये आप मेरे लिए आदर्शरूपमें पूज्य हैं ॥ ५५ ॥

(१२) श्री वासुपूज्य भगवान की स्तुति

शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु,
त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः ।

मयाऽपि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र,
दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥ ५६ ॥

अर्थ—हे मुनिनाथ ! आप वसुपूज्य राजाके पुत्र श्री वासुपूज्यस्वामी ! मंगलमय गर्भ जन्म तप आदि कल्याणकोंकी क्रियाओंके अवसर पर पूजाको प्राप्त हुए हैं, इन्द्रादि देवोंके द्वारा पूजे जाते हैं और मुझ तुच्छ बुद्धिके द्वारा (समन्तभद्र से) भी पूज्य हैं क्योंकि दीपक की ज्योतिसे क्या सूर्य नहीं पूजा जाता है ? अपितु पूजा ही जाता है।

विशेषार्थ—प्रभो ! कहां आप अनन्तगुण के धनी और कहां मैं अल्पबुद्धि ! तथापि भक्तिवश पूजा करता ही हूं। जैसे लोग दीपक की अति तुच्छ लौ से सूर्य की पूजा करते हैं वैसे मैं आपकी भक्ति करलूं तो कोई अचरज की बात नहीं है ॥ ५६ ॥

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथाऽपि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ ५७ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपमें राग भाव का अभाव है अतः आपकी पूजा करने से आपको कोई प्रयोजन नहीं है। इसी तरह आपमें द्वेष भावका अभाव है इस लिये

आपकी निन्दा करनेसे भी आपको कोई प्रयोजन नहीं है। यह सब ठीक है किन्तु फिरभी आपके पवित्र गुणोंका स्मरण पापरूपी मैलका नाश करके हमारे चित्तको पवित्र कर ही देता है।

विशेषार्थ—वीतराग भगवान अपने पुजारीके ऊपर प्रसन्न नहीं होते तथा अपने शत्रुके ऊपर कुपित नहीं होते ; फिर उनकी भक्ति से क्या लाभ ? आचार्यश्री ने इसका समाधान किया है कि आपके पवित्र गुणोंके स्मरण से चित्तकी निर्मलता एवं विशुद्धि होती है अतः आपकी पूजा-वन्दना हम अपने ही हितके लिये करते हैं ॥ ५७ ॥

पूज्यं जिनं त्वाऽर्चयतो जनस्य,
सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य,
न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥ ५८ ॥

अर्थ–हे नाथ ! आपकी स्तुति - पूजन करते हुए आरम्भादिक द्वारा कुछ पापका उपार्जन अवश्य होता है; किन्तु वह हानिकारक इस कारण नहीं कि पुण्यकर्मकी बहुलतामें वह कुछ कार्यकारी नहीं रहता, जिस तरह कि शीतल तथा कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्र-जलको एक विषकी बूंद खराब नहीं कर सकती ॥ ५८ ॥

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूते-

निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।

अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूत-

मभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥ ५९ ॥

अर्थ--जो बाह्य सामग्री पुण्य तथा पापभाव की उत्पत्ति का निमित्त कारण होती है वह अंतःकरणमें होनेवाले शुभाऽशुभादि परिणाम लक्षण मूल कारणकी (उपादानकारण की) मात्र सहकारी कारण है । वस्तुतः आपके मत में तो अन्तरंग शुभ व अशुभ परिणाम मात्र ही पुण्य-पाप बन्ध करनेको समर्थ हैं अर्थात् जीवोंके अन्तरंग परिणाम ही पुण्य तथा पाप बन्धके मूल कारण हैं, बाहरी पदार्थ शुभ व अशुभ परिणामोंके होनेमें केवल सहकारी कारण हैं ॥५६॥

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं,

कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।

नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां,

तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥ ६०॥

अर्थ--आपके दर्शनमें कार्योंके सम्पादन करनेमें बाहरी (निमित्त) और अन्तरङ्ग (उपादान) कारणोंकी जो यह र्णता है वह द्रव्य में प्राप्त हुआ स्वभाव है । बाह्य और

अन्तरङ्ग दोनों साधनोंकी पूर्णतारूप द्रव्यगत स्वभावके विना संसारी जीवोंके लिये मोक्षका उपाय भी अन्य और कोई नहीं है। इसी से हे परमऋद्धि-सम्पन्न ऋषि वासुपूज्य ! आप गणधरादि ज्ञानीजनोंके द्वारा पूजा-वन्दना किये जानेके योग्य हैं।

भावार्थ—निमित्त और उपादान कारणों की पूर्णता के होने पर ही कार्य की सिद्धि हो सकती है। जैसे घट के लिये मिट्टी (उपादान कारण) तथा चाक आदि (निमित्त कारण) दोनों साधनोंकी पूर्णता आवश्यक है उसी प्रकार मोक्ष प्राप्तिके लिये भी दोनों ही कारणोंकी आवश्यकता है उपादान (अन्तरंग) कारण तो शुद्ध भाव हैं, उन शुद्ध भावोंकी प्राप्तिके लिये वे सभी कारण निमित्त हैं जो शुद्ध भाव के साधक पड़ते हैं॥ ६०॥

---

(१३) श्री विमलनाथ भगवान की स्तुति

य एव नित्यक्षणिकादयो नया,
मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः,
परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः॥ ६१॥

अर्थ—जो नित्य- अनित्य, सत्- असत् आदिक नय हैं वे परस्पर में यदि एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखकर

सर्वथा एकान्त रूप से वस्तुतत्त्वका कथन करने वाले हैं तो वे अपना और दूसरे दोनोंका नाश करने वाला होने से स्व-पर वैरी हैं इसीलिये दुर्नय हैं। हे प्रत्यक्षज्ञानी विमलनाथ भगवन्! आपके दर्शन में वे ही नय परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखने से अपना व दूसरे दोनों का भला करने वाला होने से स्व-पर-उपकारी हैं और इसीलिये तत्वरूप सुनय हैं ॥ ६१ ॥

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये,
समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम्।
तथैव सामान्य-विशेषमातृका,
नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पनः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जैसे एक एक कारक (उपादान कारण या सहकारी कारण अथवा कर्त्ता कर्म आदि कारकों में से हर एक) अपने सिवाय दूसरे को अपना सहायकरूप कारक अपेक्षित करके कार्यकी सिद्धि के लिये समर्थ होता है, उसी प्रकार सामान्य और विशेषका विषय करने वाले नय भी (वक्ताके प्रयोजन के वश) एक को मुख्य दूसरे को गौण कहने की अपेक्षा से आपके मत में माननीय हैं। अर्थात् सभी नय सापेक्ष होकर कार्य की सिद्धि में समर्थ होते हैं ॥ ६२ ॥

परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः
प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव ।
समग्रताऽस्ति स्वपरावभासकं
यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—आपके मत में परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा से जो सामान्यात्मक (अभेद) और विशेषात्मक (भेद) ज्ञान होता है उससे भली प्रकार सिद्ध होने वाले सामान्य और विशेष धर्मोंकी उसी तरह (वस्तु में) पूर्णता है जिस प्रकार इस संसार में ज्ञान स्वरूप प्रमाणज्ञान अपने और दूसरे दोनों को प्रकाश करने वाला होता है। अर्थात् ज्ञान से यह बात सिद्ध होती है कि प्रत्येक वस्तुमें सामान्य और विशेष दोनों ही स्वभाव एक समयमें होते हैं ॥ ६३ ॥

विशेष-वाच्यस्य विशेषणं वचो,
यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् ।
तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते,
विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—(सामान्यविशेषात्मक वस्तुमें) सामान्य अथवा विशेष दोनों धर्मों में से जो कोई भी धर्म विशेष रूप वाच्य से विवक्षित है उसका वह विशेष वचन जिससे विशेष्य को नियमित किया जाता है 'विशेषण' कह-

लाता है और जिसे नियमित किया जाता है वह 'विशेष्य' कहलाता है। विशेषण और विशेष्य दोनोंके सामान्यपने का जो अति प्रसंग उपस्थित होता है वह आपके दर्शन (मत) में नहीं आ सकता; क्योंकि विवक्षित विशेषण-विशेष्य से दूसरे अविवक्षित (जिसको कहनेकी अपेक्षा नहीं है) विशेषण-विशेष्यका 'स्यात्' (किसी अपेक्षासे) शब्दसे निषेध होजाता है। अर्थात् 'स्यात' शब्द विवक्षित धर्मकी विधि करते हुए अविवक्षित धर्म का निषेध कर देता है अतः सामान्यरूपता का अति प्रसंग दोष नहीं आता है (जैसे "नीलोत्पल" यहां पर नील विशेषण है और उत्पल विशेष्य है। यहाँपर विशेपरूप वाच्य जिसके द्वारा विशेष्य को नियमित कियागया है, 'नील है'। अतः नील विशेषण है और नियमित उत्पल किया गया है अतः उत्पल विशेष्य है ॥ ६४ ॥

नयास्तव स्यात्पदसत्यलांछिता,
रसोपविद्धा इह लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो,
भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥ ६५ ॥

अर्थ—हे श्रीविमलनाथ जिनेंद्र! जिस प्रकार रस से परिपूर्ण लोहताम्रादि धातुएँ अभीष्ट फलको प्रदान करती हैं उसी प्रकार स्यात्पदरूपी सत्य से अङ्कित नित्य-

क्षणिकादि सभी नय (वस्तुतत्त्वके अन्यून और अनतिरिक्त ज्ञान के प्ररूपणमें समर्थ होकर पदार्थ का यथार्थ ज्ञान कराते हुए) अभिमत फलको फलते हैं। इसीलिये आत्म-हितको चाहने वाले गणधरादि देव सरीखे उत्तम पुरुष सदैव आपके सामने नत मस्तक हुए हैं॥ ६५ ॥

---

(१४) श्री अनन्तनाथ भगवानकी स्तुति

अनन्तदोषाशय-विग्रहो ग्रहो,
विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि ।
यतो जिनस्त्वरुचौ प्रसीदता,
त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥ ६६ ॥

अर्थ - क्योंकि आपके द्वारा अनादिकाल से हृदय में चिपटा हुआ तथा जिसका शरीर अनन्त दोषों (राग-द्वेष-मोहादि अनन्त विकारों)का आधारभूत है ऐसा मिथ्यात्वरूपी पिशाच, (जो अनन्तसंसार-परिभ्रमणका मूलकारण है) तत्त्वरुचिमें प्रसन्नता (सम्यग्दर्शन)के लाभसे जीतलिया गया है इसीलिये आप अनन्त जो मिथ्यात्व उसको जीतने वाले भगवान् 'अनन्तजित्' हुए हैं। अर्थात् यथा नाम तथा गुण होने से आप सार्थक नामधारी हैं॥ ६६ ॥

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिना-
मशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।

विशोषणं मन्मथ-दुर्मदाऽऽमयं,

समाधि-भैषज्य-गुणैर्व्यलीनयत् ॥ ६७ ॥

अर्थ—हे अनन्त जिन ! आपने आत्माको दुःख देने वाले कषाय नामके शत्रुओंको आत्मासे बिल्कुल नाश करते हुए तथा आत्मा को विशेष रूपसे संताप पैदा करने वाले कामदेवके दुर्मदरूप रोग को प्रशस्त आत्म-ध्यान रूपी औषधि के गुणोंसे जड़से नष्ट कर डाला। कषाय और कामके जीतने से ही आप सर्वज्ञ हो गए ॥ ६७ ॥

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी,

त्वया स्वतृष्णा- सरिदार्य ! शोषिता ।

असङ्ग-घर्मार्क-गभस्ति-तेजसा,

परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—हे आर्य ! परिश्रम रूपी जलसे भरी हुई तथा भयरूपी तरङ्गमालाको उठाने वाली ऐसी अपनी तृष्णा रूपी नदीको आपने अपरिग्रह रूप (अन्तरंग बहिरंग सभी परिग्रहके त्यागरूप) ग्रीष्मऋतुके सूर्यकी तेज किरणोंसे सुखा डाला है, इसलिये आपका निर्वृति-तेज उत्कृष्ट है। अर्थात् परिग्रहका त्याग करना ही तृष्णाके जीतने का अचूक उपाय है ॥ ६८ ॥

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते,

द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते ।

भवानुदासीनतमस्तयोरपि,

प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो पुरुष आपमें भक्ति रखता है वह भाग्यशाली हो जाता है और जो आपसे द्वेष करता है वह 'क्विप्' प्रत्ययके समान नष्ट हो जाता है (दुर्गतियों में पड़कर दुःख उठाता है)। किन्तु आप अपने पुजारी एवं निन्दक, दोनों ही से पूर्णतया उदासीन रहते हैं (न किसीकी श्रीवृद्धि चाहते हैं न नाश)। इस तरह हे प्रभो ! आपकी चेष्टा बहुत ही अद्भुत महिमाको लिए हुए है ॥ ६९ ॥

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम,

प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने !

अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि,

शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ॥ ७० ॥

अर्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार अमृतसे भरे हुए समुद्रका संस्पर्श मात्र ही सुखदायक होता है (अवगाहन होनेकी तो बात ही क्या ?) उसी प्रकार हे महामुने ! आप ऐसे हैं वैसे हैं इस प्रकार मुझ अल्पबुद्धिका यह थोड़ा सा प्रलाप है वह आपके संपूर्ण माहात्म्यको कथन न करते हुए भी कल्याणका ही हेतु है ॥ ७० ॥

(१५) श्री धर्मनाथ भगवानकी स्तुति

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन्,
धर्म इत्यनुमतः सतां भवान्
कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः,
शर्म शाश्वतमवाप शंकरः ॥ ७१ ॥

अर्थ—हे धर्मजिन ! आपने निर्दोष धर्मतीर्थको प्रवर्ताया है इसलिये आप सत्पुरुषों द्वारा 'धर्म' इस सार्थक नामके धारक माने गये हैं। आपने तप रूपी अग्नियोंसे कर्मोंके बनको जला डाला है जिसके फल स्वरूप अविनाशी सुख प्राप्त किया है और इसलिये आप (कर्मों का बन जला देनेके कारण अपने आपको तथा धर्मतीर्थ को प्रवर्तन करके समस्त प्राणियोंको) सुखके करने वाले होने से शंकर हैं ॥ ७१ ॥

देव-मानव-निकाय-सत्तमै,
रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः।
तारका-परिवृतोऽतिपुष्कलो,
व्योमनीव शशलाञ्छनोऽमलः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिस तरह निर्मल (मेघ पटलादिसे व राहु के विमान आदिसे आच्छादित न होता हुआ) पूर्णमासी का चन्द्रमा आकाशमण्डल में ताराओंसे वेष्टित हुआ

शोभाको प्राप्त होता है; उसी तरह हे प्रभो! (इन्द्ररचित समवशरणके भीतर) आप देव और मनुष्योंके भव्य समूहोंसे परिवेष्टित तथा गणधरादि ज्ञानी जनोंसे सेवित हुए शोभाको प्राप्त हुए ॥ ७२ ॥

प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतो,
देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरा-
न्नापि शासनफलैषणातुरः ॥ ७३ ॥

अर्थ—छत्र-चमरादि अष्ट प्रातिहार्यों (चमत्कारों) तथा समवसरणादि विभूतियोंसे सुशोभित होते हुए भी आप अपने शरीरसेभी विरक्त हो गए (फिर यदि प्रातिहार्यों एवं विभूतियोंसे विरक्त हो तो अचरज ही क्या ?)। क्योंकि आप मोह जीत चुके हैं। मनुष्यों तथा देवोंको रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गका उपदेश देते हुएभी आप अपने उपदेशके फलकी इच्छासे लेशमात्रभी आतुर नहीं हुए। क्योंकि आप परम वीतराग हैं ॥ ७३ ॥

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो,
नाऽभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो,
धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—हे श्री धर्मनाथ जिनेन्द्र ! आप प्रत्यक्ष ज्ञानी मुनिकी मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियाँ उन्हें प्रवृत्त करने की इच्छासे नहीं हुई और न अज्ञानपूर्वक ही हुई । हे धीर ! आपका चरित्र अचिन्त्य है ।

विशेषार्थ—तीर्थंकर नामकर्मोदय तथा भव्यजीवों के प्रबल पुण्योदयसे सब प्रवृत्तियां होती हैं, इच्छापूर्वक या अज्ञानसे नहीं ॥ ७४ ॥

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्,
देवतास्वपि च देवता यतः ।
तेन नाथ ! परमाऽसि देवता,
श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः ॥ ७५ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! क्योंकि आप साधारण मानव स्वभावको उलंघ कर उनसे आगे बढ़ गये हो और देवताओं के द्वारा भी पूज्य हो, इसलिये आप सर्वोत्कृष्ट देव हैं । अतः हे धर्मजिन आप हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होवें। अर्थात् आपकी भक्ति, हमारा आत्महित करनेमें साधकतम निमित्त कारण हो । ॥ ७५ ॥

---

(१६) श्री शान्तिनाथ भगवानकी स्तुति

विधाय रक्षां परतः प्रजानां,
राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः ।

व्यधात्पुरस्तात् स्वत एव शान्ति-

मुनिर्दयामूर्तिरिवाऽघशान्तिम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो शांतिनाथ तीर्थङ्कर शत्रुओं से प्रजाजनों की रक्षा करके चिरकाल तक अनुपम पराक्रम धारी चक्रवर्ती सम्राट् हुए फिर जिन्होंने अपने आप ही (बिना किसी दूसरेके उपदेशके) मुनि होकर दयामूर्तिकी तरह (परम दयावान होकर) सर्वप्रथम हिंसादि पापोंकी शान्ति की। अर्थात् स्वकीय पापोंकी शान्ति करनेके कारण तथा प्रजाजनोंको सुख-शान्ति देनेके कारण आप सार्थक नाम धारी हैं ॥ ७६ ॥

चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण,

जित्वा नृपः सर्वनरेन्द्र-चक्रम् ।

समाधि-चक्रेण पुनर्जिगाय,

महोदयो दुर्जय-मोह-चक्रम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—जो (गृहस्थ अवस्था में) शत्रुओंको भय उपजाने वाले चक्ररत्नके द्वारा सभी राजाओंके समूहको विजय करके चक्रवर्ती सम्राट् हुए और फिर (मुनि अवस्था में) धर्मध्यान-शुक्लध्यानरूप समाधिचक्रके द्वारा दुर्निवार मोहके चक्र (ससैन्य मोहनीय कर्म) को जीत कर जो अपने पूर्ण विकासको प्राप्त हुए ॥ ७७ ॥

राज-श्रिया राजसु राजसिंहो,
रराज यो राज-सुभोग-तंत्रः ।
आर्हन्त्य-लक्ष्म्या पुनरात्मतंत्रो,
देवाऽसुरोदारसभे रराज ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो राजसिंह (चक्रवर्ती) राजाओंके महा मनोहर भोगोंके भोगनेमें स्वाधीन हुए राजलक्ष्मीसे राजाओंके मध्यमें शोभाको प्राप्त हुए फिर वे ही (परम वीतराग अवस्था में) आत्म रस में लीन होते हुए अर्हन्त पद की लक्ष्मी से (अनन्तज्ञानादि रूप अन्तरङ्ग तथा अष्ट प्रातिहार्य और समवसरणादि बहिरङ्ग विभूतिसे) देवों तथा मनुष्यादिकोंकी बड़ी सभा (समवसरन) के मध्यमें शोभाको प्राप्त हुए ॥ ७८ ॥

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं,
मुनौ दयादीधिति-धर्मचक्रम् ।
पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रं,
ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् । ७९ ।

अर्थ—जिनके राजा होने पर राजाओं का समूह हाथोंको जोड़े हुए खड़ा रहा, मुनि होने पर दयामई किरणोंका धारी धर्म चक्र वशीभूत हो अग्रसर होकर चला, पूज्य अर्हन्त पदकी प्राप्ति होने पर देवोंका समूह बार बार हाथ जोड़ हुए खड़ा रहा और चौथे शुक्लध्यान

के सन्मुख होने पर चार अघातिया कर्मोंका समूह नाश को प्राप्त हुआ अर्थात् कर्मों के समूल नष्ट होने पर मोक्ष लक्ष्मी आपके स्वागतके लिये आ उपस्थित हुई ॥ ७६ ॥

स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्तिः,
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै,
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः।८०।

अर्थ—जिन्होंने अपने दोषों (रागादिरूप विभाव परिणामों) को (स्वयं) पूर्ण नष्ट करके आत्मामें पूर्ण शान्ति प्राप्त की है, अतएव जो शरण में आये हुए भव्य जीवों में शान्तिसुख का संचार करने वाले हैं; मैं ऐसे शान्तिमय भगवान् शान्तिजिनकी परम शरण में प्राप्त होता हूं। अतः मेरे संसार-भ्रमण की, दुःखों की और भयों का शान्ति के लिये निमित्त कारण होवें ॥ ८० ॥

---

(१७) श्री कुन्थुनाथ भगवान की स्तुति

कुन्थु-प्रभृत्यखिल-सत्वदयैकतानः,
कुन्थुर्जिनो ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै ।
त्वं धर्मचक्रमिह वर्तयसि स्म भूत्यै,
भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वर-चक्र-पाणिः ॥ ८१ ॥

अर्थ—हे कुन्थुनाथ जिनेन्द्र ! आपने पहले (गृहस्थ अवस्थामें) राज्यविभूतिकी प्राप्ति के लिये सुदर्शनचक्र का हाथ में धारण करते हुए बड़े २ राजाओं के स्वामी चक्रवर्ती होकर फिर (मुनि अवस्था में) कुन्थु आदि (बहुत ही छोटा त्रस जन्तु) जीवों को आदि लेकर सकल प्राणिमात्र पर पूर्ण दया धारण करने में एकतान होकर ज्वरादिरोग, बुढ़ापा और मरण की शान्तिस्वरूप मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्तिके लिये इस लोक में रत्नत्रयमय धर्म-चक्रका प्रवर्तन किया है । अर्थात् आप चक्रवर्ती और तीर्थंकर दोनों पदों के धारक हुए हैं ॥ ८१ ॥

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा,
मिष्टेन्द्रियार्थ-विभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव काय-परितापहरं निमित्त,
मित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥ ८२ ॥

अर्थ—तृष्णारूपी अग्निकी ज्वालाएं (निरन्तर हृदय को) संतापित करती रहती हैं । इन्द्रियविषयोंकी प्राप्ति से इन ज्वालाओंकी शान्ति नहीं होती, उल्टी बढ़वारी ही होती है; क्योंकि वस्तुस्वभाव ऐसा ही है । सेवन किये हुए इन्द्रियों के भोग (कुछ क्षणों के लिये) मात्र शरीरके संतापको मिटानेमें निमित्त पड़ जाते हैं (मनकी दाह शान्त करनेमें समर्थ नहीं होते), ऐसा समझकर

इन्द्रियविजेता प्रभु आपने इन्द्रिय-विषयोंके सुखसे उदासीनता धारण करली। अर्थात् चक्रवर्तीके वैभवसे मुंह मोड़कर जिनदीक्षा धारण कर ली ॥ ८२ ॥

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व-
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्,
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥८३॥

अर्थ—(मुनिमुद्रा धारण करके) आपने आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके हेतु अनशनादिरूप परम कठिन बाह्य तपश्चरण को करते हुए आर्त-रौद्ररूप दो खोटे ध्यानोंको दूर करके उत्तरवर्ती धर्म और शुक्ल नामक दो उत्तम ध्यानोंमें वर्तन किया ॥ ८३ ॥

हुत्वा स्वकर्म-कटुकप्रकृतीश्चतस्रो,
रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्य्यः।
बभ्राजिष सकलवेदविधेर्विनेता,
व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥ ८४ ॥

अर्थ—आप अपने आत्माके साथ बंधे हुए कर्मों का चार ज्ञानावरणादि अशुभ (घातिया) प्रकृतियोंको सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्ररूप रत्नत्रयकी परम शुक्लध्यानरूपी अग्निमें भस्म करके अनन्तवीर्यके धनी हुए हैं। सम्पूर्ण-ज्ञान विधायक आगमके प्रणेता होकर

ऐसी शोभाको प्राप्त हुए हैं जैसे मेघावरण रहित आकाश में तेजस्वी सूर्य शोभाको प्राप्त होता है ॥ ८४ ॥

यस्मान्मुनीन्द्र तवलोकपितामहाद्या,
विद्या-विभूति-कणिकामपि नाप्नुवन्ति ।
तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः
स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः ॥ ८५ ॥

अर्थ—हे यतिश्रेष्ठ श्री कुन्थुजिन ! चूँकि जगतके माने हुए ब्रह्मा-विष्णु-महेश-कपिल-बुद्धादिक आपके केवलज्ञानको और समवसरणादि विभूतिकी एक कणिका को भी नहीं प्राप्त होते हैं, इसीलिये अपने आत्मकल्याण को धुनमें लगे हुए श्रेष्ठ बुद्धिधारी गणधरादिक जन्म-मरण रहित अविनाशी, अनन्तज्ञानधारी तथा अनुपम स्तुतिपात्र आपकी ही स्तुति करते हैं ॥ ८५ ॥

---

(१८) श्री अरनाथ भगवान की स्तुति

गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥

अर्थ—हे भगवन् ! विद्यमान थोड़ेसे गुणोंको उल्लंघन करके उनको बढ़ाकर बहुत कहना ही 'स्तुति' है, किन्तु आपके जबकि गुण अनन्त हैं जिनका कि नाममात्र

कहना भी हमारी शक्तिसे बाहर है फिर आपकी स्तुति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ॥ ८६ ॥

नथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥८७॥

अर्थ—यद्यपि आपके गुणोंका कथन नहीं होसकता फिर भी हे प्रभो ! आप पुण्यकीर्ति मुनीन्द्रके कतिपय गुणोंका नाममात्र कथनभी आत्माको पवित्र बना देता है अतः मैं कुछ कहता हूं ॥ ८७ ॥

लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलांछनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत् ॥ ८८ ॥

अर्थ—सुदर्शनचक्रके चिह्न सहित सम्पूर्ण लक्ष्मीके विभवस्वरूप चक्रवर्तित्वका सार्वभौम साम्राज्य आपको मिला हुआ था वह (समस्त चक्रवर्तीकी सम्पदा) आपने मोक्ष प्राप्तिकी इच्छा होने पर जीर्ण तृणके समान असार जानकर त्याग दिया ॥ ८८ ॥

नव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्वयक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ॥ ८९ ॥

अर्थ—आपके रूपकी सुन्दरताको निरखकर दो नेत्रधारी इन्द्रको (दो आँखोंसे) तृप्ति न हुई, तब उसने एक हजार नेत्र बनाकर आपको निरखा तो भी तृप्ति न हुई और उसको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ ॥ ८९ ॥

मोहरूपो रिपुः पापः कषाय-भट-साधनः ।
दृष्टि-संविदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः ॥ ९० ॥

अर्थ—क्रोध-मान-माया-लोभादिक कषाय रूपी योद्धाओंकी सेना सहित जो मोहनीय कर्मरूप महापापी शत्रु है, उस महान् शत्रुको हे धीर (परीषहोंके आनेपर भी अक्षोभ चित्त स्वामी) श्री अरनाथ ! आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूप दिव्य अस्त्रोंके द्वारा जीत लिया ॥ ६० ॥

कन्दर्पस्योद्धुरो दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जितः ।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥ ९१ ॥

अर्थ—तीन लोकके प्राणियोंको जीत लेनेसे उत्पन्न हुए कामदेवके दुर्निवार अहङ्कारको आपने लज्जित कर दिया । क्योंकि आप परम वीतरागीके सामने कामदेवकी कला न चलनेसे वह प्रभावहीन (मलिन मुख) होगया ॥ ६१ ॥

आयत्यां च तदात्वे च दुखयोनिर्दुरुत्तरा ।
तृष्णा-नदी त्वयोत्तीर्णा विद्या-नावा विविक्तया ॥

अर्थ—इस लोक तथा परलोकमें निरन्तर दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली तथा जिसका पार करना अत्यन्त कठिन है ऐसी तृष्णारूपी नदीको आपने निर्दोष आत्मज्ञानरूपी नौकासे पार किया है ॥ ६२ ॥

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वर-सखा सदा ।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः।९३।

अर्थ—जन्म और ज्वरादिक रोगोंका मित्र यमराज सदैव मनुष्योंको रुलाने वाला है; परन्तु आप अन्तक (यमराज) का अन्त (नाश) करने वाले प्रभुके पास आकर यमराज अपनी इच्छानुसार प्रवृत्तिसे रहित होगया। अर्थात् जगत विजयी यमराजके मदको आपने चूर २ कर डाला ॥ ९३ ॥

भूषा-वेषाऽऽयुध-त्यागि विद्या-दम-दया-परम्
रूपमेव तवाचष्टे धीर ! दोष-विनिग्रहम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—हे धीरवीर अरनाथ भगवन् ! आभूषण, वेष तथा शस्त्रादि रहित और निर्मलज्ञान रूप एवं कषाय व इन्द्रियों के दमनसे प्राप्त हुआ परम शांत भाव तथा अपूर्व दयाको झलकाने वाला आपका रूप ही इस बातको प्रगट रूपसे बतला रहा है कि आपने मोहादि दोषोंको पूर्णरूपसे नष्ट कर दिया है ॥ ९४ ॥

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा ।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा ॥ ९५ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके चहुं ओरसे निकलने वाले शरीर की आभा (तेजों) के विशाल प्रभामण्डलसे

बाहरी अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ तथा आपके आत्म-ध्यानके तेजसे अंतरङ्गका अज्ञानादि अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ है ॥ ६५ ॥

सर्वज्ञज्योतिषोद्‌भूतस्तावको महिमोदयः।
कं न कुर्यात् प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ! सचेतनम् ॥

अर्थ—हे नाथ! सर्वज्ञ की ज्योतिसे पैदा हुआ आपकी महिमाका महान् प्रकाश किस सचेतन (ज्ञानी) प्राणीको आपके आगे नत-मस्तक नहीं करता? अर्थात् सभीको करता है ॥ ६६ ॥

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषा-स्वभाविकम् ।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ॥ ९७ ॥

अर्थ—वस्तु स्वभावका यथार्थ कथन करने रूप लक्ष्मीको धारण करने वाला तथा सर्व प्राणियोंकी भाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको धरने वाला और समवसरणसभामें व्याप्त हुआ आपका वचनरूपी अमृत प्राणियोंको उसी प्रकार तृप्त करता है जिस प्रकार कि अमृतपान ॥ ६७ ॥

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥६८॥

अर्थ—हे श्री अरनाथ जिनेन्द्र! आपकी अनेकान्त मयी दृष्टि सत्य है इसके विपरीत सर्वथा एकान्त मत

शून्यरूप होनेसे असत् है। अतः एकान्तदृष्टिको लिये हुए सभी कथन मिथ्या है; क्योंकि वह अपना ही घातक होने (अस्तित्व न रखने) से युक्तिसंगत नहीं है ॥ ६८ ॥

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः ।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मताश्रियः ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो एकान्तवादी तपस्वी अनेकान्तका खण्डन करनेके लिये जागृत रहते हैं और अपने एकान्त मतमें आने वाले दोषोंके प्रति गज-निमीलन (हाथी अपनी आँखोंसे देखता हुआ भी न देखने वालेके समान अपनेको झलकाता है इसीका नाम गज-निमीलन है) का सा व्यवहार करते हैं (दोषोंको देखते हुए भी न देखनेका स्वांग रचते हैं)। वे बेचारे क्या करें ? वे आपके अनेकान्तमतरूपी लक्ष्मीके पानेके पात्र नहीं हैं ॥ ६९ ॥

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः ।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः ॥

अर्थ—वे एकान्तवादी जन अपने एकान्त मतके खण्डन करने वाले दोषको दूर करनेके लिये समर्थ नहीं है, आपके अनेकान्त मतसे द्वेष करते हैं तथा अपना घात आप करनेके कारण आत्मघाती हैं ऐसे ही अज्ञानी (यथार्थ वस्तु स्वरूपसे अनभिज्ञ) लोगोंने यही आश्रय

पकड़ लिया कि वस्तुका स्वरूप सर्वथा कहा ही नहीं जा सकता ॥ १०० ॥

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहितं ॥१०१॥

अर्थ—सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विरोधी असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य ऐसा जो नयों का पक्ष है उनको सर्वथा एकान्त रूपसे मानने पर वे सभी नय मिथ्या हैं और स्यात् रूप (भिन्न २ दृष्टिकोणों) से मानने पर वे सभी नय सुनय हैं ॥ १०१ ॥

सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥

अर्थ—वस्तुतत्त्वका सर्वथा एकान्तरूपसे प्रतिपादन के नियमका निराकरण करने वाला तथा प्रमाणज्ञानसे सिद्धवस्तुतत्त्वका कथन अपेक्षा (भिन्न २ दृष्टिकोणों) से करने वाला जो 'स्यात्' (किसी अपेक्षासे) शब्द है वह आप अनेकान्तवादी जिनदेवके न्यायदर्शनमें है, अपने शत्रु आप ऐसे जो एकान्तवादी जन हैं उनके न्यायमें नहीं है ॥ १०२ ॥

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।१०३।

अर्थ—प्रमाण और नयदृष्टियों से सिद्ध अनेकान्त भी (केवल सम्यक् एकान्त ही नहीं) आपके मतमें अनेकान्त स्वरूप है (किसी अपेक्षासे अनेकान्त और किसी अपेक्षासे एकान्तरूप है) प्रमाणकी अपेक्षासे अनेकान्त-स्वरूप है और किसी नयविशेषकी मुख्यतासे अनेकान्त में एकान्तरूप सिद्ध होता है ॥ १०३ ॥

इति निरुपम-युक्त-शासनः
प्रिय-हित-योग-गुणाऽनुशासनः ।
अरजिन ! दमतीर्थनायक-
स्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः ॥१०४॥

अर्थ—हे अरनाथ जिनेन्द्र ! इस प्रकार आप अद्वितीय तथा निर्बाध प्रमाणकी युक्तियोंसे सिद्ध शासन-मत के प्रवर्तक हैं, आपका मत सुखकारी तथा हितकारी मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियोंका और सम्यग्दर्शनादिक गुणों का उपदेश करनेवाला है । साथ ही आप इन्द्रिय व कषाय विजेता धर्मतीर्थ के स्वामी हैं। आपके समान साधुजनोंको सच्चा बोध देनेके लिये और कोई समर्थ नहीं है ॥ १०४ ॥

मतिगुणविभवानुरूपत-
स्त्वयिवरदागमदृष्टिरूपतः ।

गुणकृशमपि किंचनोदितं,

मम भवताद् दुरितासनोदितम् ॥१०५॥

अर्थ—हे सर्वश्रेष्ठ मोक्षपदके दाता-अरजिन ! मैंने अपने ज्ञानकी शक्तिके अनुसार तथा जिनागमकी दृष्टि के अनुकूल आपके विषय में कुछ थोड़ेसे गुणोंका वर्णन किया है यह मेरे पापोंको नाश करनेमें समर्थ होवे ॥ १०५ ॥

---

(१९) श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर की स्तुति

यस्य महर्षेः सकल-पदार्थ-

प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।

सामर-मर्त्यं जगदपि सर्वं

प्राञ्जलि-भूत्वा प्रणिपतति स्म ॥१०६॥

अर्थ—जिन महाऋषि मल्लिनाथके जीवादि सकल पदार्थों का परिपूर्ण ज्ञान (केवल ज्ञान) प्रत्यक्षरूपसे (घातिया कर्मों का नाश होने पर) उत्पन्न हुआ, (और इसीलिये तब) जिन्हें देवों तथा मनुष्यों सहित सर्व ही संसारके प्राणियोंने हाथ जोड़कर नमस्कार किया ॥ १०६ ॥

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव

स्वस्फुरदाभा-कृत-परिवेषा ।

वागपि तत्त्वं कथयितुकामा
स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून् ॥ १०७ ॥

अथ —जिन श्री मल्लिनाथके शरीरकी आकृति सुवर्णमई-जैसी है और अपनी चारों तरफ फैलती हुई कान्ति से शरीरके चारों तरफ भामण्डल बनाये हुए है। 'स्यात्' (किसी अपेक्षा) पद सहित जिनकी वाणी भी यथार्थ वस्तु स्वरूपका कथन करने वाली है और साधुजनोंको रंजायमान करती है ॥ १०७ ॥

यस्य पुरस्ताद्विगलित-माना,
न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासी-
ज्जातविकोशाम्बुज-मृदुहासा ॥ १०८ ॥

अर्थ—जिनके सामने मान गलित होजानेके कारण एकान्त मतवाले पृथ्वी पर विवाद नहीं करते हैं तथा पृथ्वी भी (आपके विहारके समय) पग-पग पर खिले हुए कमलों के द्वारा मृदु-हास्यको झलकाती हुई अत्यन्य रमणीक हो जाती है ॥ १०८ ॥

यस्य समन्ताज्जिन-शिशिरांशोः,
शिष्यक-साधु-ग्रह-विभवोऽभूत्।
तीर्थमपि स्वं जनन-समुद्र-
त्रासित-सत्त्वोत्तरण-पथोऽग्रम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—(जैसे चन्द्रमाके चारों तरफ ग्रह व तारागण शोभते हैं उसी प्रकार) जिन श्री मल्लिनाथ जिनेन्द्ररूपी चन्द्रके चारों तरफ शिष्यमाधुसमूहरूपी ग्रह सुशोभित हो रहे थे तथा जिनका आत्मानुभवनरूप शासन भी संसार-समुद्रसे भयभीत प्राणियोंको पार उतारनेके लिये मुख्य मार्ग हुआ है ॥ १०६ ॥

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-
ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् ।
तं जिनसिंहं कृतकरणीयं
मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥ ११० ॥

अर्थ—और जिनकी शुक्लध्यानरूप उत्कृष्ट तपरूपी अग्नि ने परंपरासे चले आये हुए अनन्त पाप कर्मोंको भस्म किया है उन कृतकृत्य जिनश्रेष्ठ तथा माया मिथ्यात्वादि शल्य रहित श्री मल्लिनाथ जिनेन्द्रकी शरणमें मैं प्राप्त हुआ हूं अर्थात् उनकी शरण में आनेसे मेरे भी अनन्त पापकर्मोंका क्षय होवे ॥ ११० ॥

---

(२०) श्रीमुनिसुव्रत तीर्थंकर की स्तुति

अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थिति-
र्मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः ।

मुनि-परिषदि निर्बभौ भवा-
नुडुपरिषत्परिवीतसोमवत् ॥ १११ ॥

अर्थ—जो मुनियोंके योग्य शोभनाक मूलोत्तर गुणोंको अधिगत करके उनमें भले प्रकार स्वतः स्थित हैं, मुनियोंमें श्रेष्ठ मुनिराज हैं, चार घातिया कर्मरूप पापसे रहित हैं, ऐसे 'मुनि-सुव्रत' सार्थक नामके धारक मुनिराज ! आप गणधरादि मुनियोंकी सभा (समवसरण) में उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस तरह कि नक्षत्र व तारागणोंके समूहसे वेष्ठित चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है ॥ १११ ॥

परिणतशिखिकण्ठरागया
कृत-मद-निग्रह-विग्रहाऽऽभया ।
तव जिन तपसः प्रसूतया,
ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम् ॥ ११२ ॥

अर्थ–हे श्री मुनिसुव्रत जिनेन्द्र ! तरुण मोरके कण्ठके नीलवर्णके समान नीलवर्णका धारक आपका शरीर कामदेवके मदको जीतनेके कारण ब्रह्मचर्यकी परमशांत निर्विकार दीप्तिसे व तपके द्वारा उत्पन्न हुई (सप्त धातु रहित) परम छविसे ऐसे शोभित हुआ है जैसे पूर्णमासीके चन्द्रमण्डल की दीप्ति सुशोभित होती है ॥ ११२ ॥

शशि-रुचि-शुचि शुक्ललोहितं
सुरभितरं विरजो निजं वपुः ।

तव शिवमतिविस्मयं यते

यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ॥ ११३॥

अर्थ—हे मुनिराज आपका अपना शरीर चन्द्रमा की कान्तिके समान निर्मल, सफेद रंगके समान रुधिर वाला, बहुत ही सुगन्धित, मैल रहित, सुन्दर एवं कल्याणमय तथा अत्यन्त आश्चर्य वाला है और आपके वचन तथा मनकी चेष्टा भी कल्याणमयी एवं आश्चर्य वाली है ॥ ११३ ॥

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं,

चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम् ।

इति जिन सकलज्ञलांछनं

वचनमिदं वदनांवरस्य ते ॥ ११४ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आप उपदेश दाताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं । आपका यह वचन कि जड़-चेतनरूप यह जगत् हर एक समयमें उत्पाद, व्यय (विनाश) और ध्रौव्य लक्षण वाला है आपकी सर्वज्ञताका चिन्ह है ॥ ११४ ॥

दुरितमलकलंकमष्टकं,

निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।

अभवदभव-सौख्यवान् भवान्,

भवतु ममापि भवोपशांतये ॥ ११५ ॥

अर्थ—आपने उपमा रहित परम शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि के तेजसे आठों पाप-मलरूप कलङ्कोंको भस्मीभूत करके संसारमें न पाये जाने वाले (मोक्ष) सौख्यको प्राप्त किया है। हे प्रभो, आप मेरे भी संसारके नाशके लिये कारण होवें ॥ ११५ ॥

(२१) श्री नमिनाथ तीर्थंकरकी स्तुति

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल-परिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे,
स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमि-जिनम्॥११६॥

अर्थ—स्तुति करते समय जिसकी स्तुति की जाती है वह साक्षात् मौजूद हो या न हो तथा उस स्तुतिसे फल की प्राप्ति भी होती हो या न होती हो, परन्तु भक्ति-भाव पूर्वक स्तुति करनेवाले साधुजनके द्वारा की गई आपकी स्तुति शुभ परिणामोंका कारण अवश्य है। अर्थात् स्तुतिकारकी भावसहित स्तुति सदैव परिणामोंको निर्मल करनेमें प्रधान निमित्त होती है। जब जगतमें इस प्रकार स्वाधीनतासे मोक्षमार्ग सुलभ है तब, हे सदैव इन्द्रादि पूज्य नमिनाथ स्वामी! ऐसा कौन ज्ञानीजन है जो अपने परिणामोंकी

उज्ज्वलताके लिये आपकी स्तुति न करेगा? अर्थात् अवश्य आपकी सदा स्तुति करेगा ॥ ११६ ॥

त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्म-निगलं,
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी।
त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगव-
न्नभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः ॥११७॥

अर्थ—हे बुद्धि-ऋद्धिसम्पन्न भगवन्! आपने अपने शुद्धात्म स्वभावमें चित्त परिणतिको एकाग्र करके जन्मरूप के बन्धनको उसके मूलकारण सहित नाश किया है, अतः आप ही विद्वानोंके लिये मोक्षमार्ग स्वरूप हैं। हे भगवन्! आपके भीतर संपूर्ण शक्तिमई किरणोंके साथ केवलज्ञानमई ज्योति प्रकाशमान हो रही है। आपके समक्ष एकान्तवादीजन उसी प्रकार कान्तिहीन हो गए हैं जिस प्रकार कि निर्मल सूर्यके सामने जुगनू कान्तिहीन हो चमकते हैं ॥ ११७ ॥

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद्,
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः।
सदाऽन्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा,
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥ ११८ ॥

अर्थ—हे तीन लोकके महान गुरु श्री नमिनाथ भगवन्! आपने जीवादि वस्तुतत्त्वका स्वरूप बहुतसे नयों

की विवक्षा अविवक्षा के वशसे निरूपण किया है। वह वस्तुतत्त्व (अपने स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा) अस्तिस्वरूप, (परचतुष्टयकी अपेक्षा) नास्तिरूप, (क्रमसे कहने पर) अस्तिनास्तिस्वरूप, (एक समयमें वचन द्वारा एक साथ प्रतिपादन न हो सकने के कारण) अवक्तव्यस्वरूप तथा मिश्र भङ्ग (अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति नास्ति अवक्तव्य)स्वरूप ऐसे सप्तभंगरूप है। साथ ही अपरिमित धर्मोंका कथन किया है। जिसमेंसे हरएक धर्म एक दूसरेकी अपेक्षा लिये हुए है और सप्तभंगके नियमसे विशिष्ट है ॥ ११८ ॥

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥११९॥

अर्थ—हे नमिनाथ ! प्राणियोंकी अहिंसा-उन्हें घात नहीं करना प्रत्युत उनकी रक्षा करना-जगत विख्यात परमब्रह्म है-परमात्म स्वरूप है, वह अहिंसा उस साधुवर्गमें कदापि नहीं बन सकती है जहां अणुमात्र-थोड़ा-भी परिग्रह है इसीलिये हे परम करुणानिधान ! आपने ही उस परम ब्रह्मस्वरूप अहिंसा की सिद्धि के लिये बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग किया और विकृ-

तवेष तथा परिग्रहमें आसक्त नहीं हुए। जो विकृतवेष और परिग्रहमें रत रहे, फलस्वरूप वे परमब्रह्मकी सिद्धिसे वंचित रहे ॥

विशेषार्थ—परमब्रह्म स्वरूप अहिंसा तत्त्वकी प्राप्तिका अमोघ उपाय बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रह को सर्वथा छोड़ना ही है ॥ ११९ ॥

वपुर्भूषा-वेष-व्यवधिरहितं शान्तकरणं,
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातंकविजयम् ।
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं,
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः ।

अर्थ—हे नमिनाथ भगवन् ! आभूषण, वेष तथा वस्त्र आदिके आच्छादनसे रहित और इन्द्रियोंकी अपने २ विषयोंमें चाहनेकी निवृत्तिको लिये हुए आपका शरीर यह बतलाता है कि आपने कामदेवके बाणोंके विषसे होने वाली पीड़ाको जीत लिया है तथा भयङ्कर शस्त्रोंके बिना ही निर्दयी हृदय क्रोधका नाश किया है अतः आप निर्मोह (वीतराग) हैं और शान्ति-सुखके स्थान हैं इस कारण आप हमारे लिये शरण रूप हैं॥ १२० ॥

---

(२२) श्री नेमिनाथ तीर्थंकर की स्तुति

भगवानृषिः परमयोग-
दहन-हुत-कल्मषेन्धनः ।

ज्ञान-विपुल-किरणैः सकलं,
प्रतिबुध्य बुद्ध-कमलायतेक्षणः ॥ १२१ ॥
हरिवंश-केतुरनवद्य-,
विनय-दमतीर्थ-नायकः ।
शील-जलधिरभवो विभव-
स्त्वमरिष्टनेमि-जिनकुञ्जरोऽजरः ॥१२२॥

अर्थ—खिले हुए कमलपत्रके समान लम्बी आखोंके धारण करने वाले तथा हरिवंशमें पताकास्वरूप हे अरिष्ट-नेमि जिनेन्द्र ! आप भगवान्, ऋद्धिसम्पन्न परममुनि, अठारह हजार शीलोंके धारक, उत्तम शुक्लध्यानाग्निसे घातिया कर्मरूपी ईंधनको भस्म करने वाले, तथा केवल-ज्ञानकी विशाल किरणोंसे समस्त लोकालोकको जानकर निर्दोष विनय और इन्द्रिय विजयरूपी धर्मतीर्थके प्रवर्तक हुए हैं। साथ ही आप जरारहित और भवसे मुक्तपने को प्राप्त हुए हैं ॥ १२१ ॥ ॥ १२२ ॥

त्रिदशेन्द्र-मौलि-मणि-रत्न- ।
किरण-विसरोपचुम्बितम्
पाद-युगलममलं भवतो,
विकसत्कुशेशय-दलारुणोदरम् ॥१२३॥
नख-चन्द्र-रश्मि-कवचाऽति-
रुचिर-शिखराङ्गुलिस्थलम् ।

स्वार्थ-नियत-मनसः सुधियः,

प्रणमन्ति मन्त्र-मुखरा महर्षयः॥ १२४॥

अर्थ—देवेन्द्रोंके मुकुटोंकी मणियों व रत्नोंकी किरणोंके फैलावसे चुम्बित, खिले हुए लालकमलके पत्रके समान रक्त वर्णवाले पादतल, नखरूपी चन्द्रमाकी किरणों के परिमण्डलसे अति मनोहारी अंगुलियोंका उन्नतप्रदेश ऐसे आपके निर्मल चरण-द्वयको वे ज्ञानी महर्षिजन प्रणाम करते हैं जो अपना आत्महित-साधन करनेमें तत्पर होकर दत्तचित्त हैं और जिनके मुखपर सर्दैव स्तुति-मंत्र रहते हैं ॥ १२३–१२४ ॥

द्युतिमद्रथाङ्ग-रवि-बिम्ब-

किरण-जटिलांशुमण्डलः ।

नील-जलज-दल-राशि-वपुः,

सह बन्धुभिर्गरुड़केतुरीश्वरः ॥ १२५॥

हलभृच्च ते स्वजन भक्ति-

मुदितहृदयौ जनेश्वरौ ।

धर्म-विनय-रसिकौ सुतरां,

चरणारविंद-युगलं प्रणेमतुः ॥ १२६॥

अर्थ—जिनका शरीरमंडल द्युतिको धारण किए हुए सुदर्शन चक्ररूप सूर्यमण्डलकी किरणोंसे व्याप्त है और जिनका शरीर नीले कमल-दलोंकी राशिके समान श्याम

नर्ण है उन गरुड़ध्वजाधारी नारायण श्रीकृष्ण और बलभद्र दोनों जननायकों ने, जो अपने कुटुम्बी जनोंकी भक्ति से हर्षित चित्त थे और धर्मकी विनयरूप आचरणके प्रेमी थे, समवसरण में पहुँचकर आपके दोनों चरणकमलोंको अपने अन्य बन्धुजनोंके साथ अति भक्तिभावसे बार २ प्रणाम किया है ॥ १२५–१२६ ॥

ककुदं भुवः खचर-योषि-
दुषित-शिखरैरलङ्कृतः ।
मेघपटल-परिवीत-तट-स्तव
लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥ १२७ ॥
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च,
सततमभिगम्यतेऽद्य च ।
प्रीति-वितत-हृदयैः परितो,
भृशमूर्ज्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥ १२८ ॥

अर्थ—बैलके कन्धेका अग्रभाग जिस प्रकार सुशोभित होता है उसी प्रकार जो पृथ्वीके उच्चस्थानकी शोभाको प्राप्त है, विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे सेवित शिखरोंसे शोभायमान है और जिसके किनारे बादलोंके समूहोंसे व्याप्त हैं वह लोकप्रसिद्ध ऊर्जयन्त (गिरनार) नामक पर्वत है। इन्द्र द्वारा उकेरकर लिखे गये आपके चिन्होंको धारण करनेके कारण तीर्थ स्थान है और जिसको आज भी भक्ति

भरे ऋषिगण बड़े चाव से (आत्मसिद्धिके लिये) निरन्तर सेवन करते हैं ॥ १२७–१२८ ॥

बहिरन्तरप्युभयथा च,
करणमविधाती नाऽर्थकृत् ।
नाथ युगपदखिलं च सदा,
त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ ॥ १२९ ॥
अतएव ते बुधनुतस्य,
चरित-गुणमद्भुतोदयम्
न्याय-विहितमवधार्य जिने,
त्वयि सुप्रसन्न-मनसः स्थिता वयम् ॥ १३० ॥

अर्थ—हे नाथ ! आपने इस संपूर्ण जगतको सदैव हाथ में रखी हुई स्फटिकमणिके समान एक साथ जाना है । आपके इस जाननेमें बाह्य इन्द्रियां व अन्तरङ्ग मन ये दोनों ही न तो कोई बाधा उत्पन्न करते हैं और न किसी प्रकारका उपकार ही करते हैं । इसीलिये हे गणधरादि ज्ञानी जीवोंसे नमस्कार करने योग्य नेमिनाथ भगवन् ! आपके न्यायपूर्ण तथा समवसरणादिविभूतिस्वरूप व अनंत चतुष्टयस्वरूप अद्भुत उदय सहित चरित्रके माहात्म्यको भले प्रकार हृदयमें धारण करके हम बड़े प्रसन्न चित्तसे आपके भक्त बने हैं ॥ १२९–१३० ॥

(२३) श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः,
प्रकीर्ण-भीमाऽशनि-वायु-वृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो,
महामना यो न चचाल योगतः ॥ १३१ ॥

अर्थ—तमालवृक्षके समान नीलवर्णके धारण करने वाले, इन्द्रधनुष तथा बिजलीके गुणों सहित, भयानक वज्रपात, पवन व जलवृष्टि करने वाले ऐसे कमठशत्रुके वशवर्ती बादलोंके द्वारा घोर उपसर्ग किये जाने पर भी जो महामना परमध्यानसे चलायमान नहीं हुए ॥ १३१ ॥

बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं,
स्फुरत्तडित्पिङ्ग-रुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं,
विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा ॥ १३२ ॥

अर्थ—श्री पार्श्वनाथ भगवानके ऊपर घोर उपसर्ग होने पर धरणेन्द्र नामके नागकुमार इन्द्रने चमकती हुई बिजलीकी पीतरङ्गकी कान्तिको लिये हुए विशाल एवं दीर्घ फणोंके मण्डलरूपी मण्डपसे उसी प्रकार वेष्टित कर दिया जिस प्रकार लालीरहित काली संध्याके समय बिजली सहित बादल पर्वतको बेढ़ लेते हैं ॥ १३२ ॥

स्वयोग-निस्त्रिंश-निशातधारया,
निशात्य यो दुर्जय-मोह विद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिंत्यमद्भुतं,
त्रिलोकपूजाऽतिशयास्पदं पदम् ॥ १३३॥

अर्थ—जिन्होंने अपने शुक्लध्यानरूपी खड्गकी तेजधारसे दुर्जय मोहरूप शत्रुको नाश करके उस अर्हंत पदको प्राप्त किया है जिसकी महिमा परम अद्भुत है, जो चिन्तवन में ही नहीं आसकती है तथा जिस पदको तीन लोकके प्राणी पूजते हैं ॥ १३३ ॥

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं,
तपोधनास्तेऽपितथा बुभूषवः ।
वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः,
शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥ १३४ ॥

अर्थ—जिन्हें घातिकर्मरूप पापसे रहित, मोक्ष-मार्गके सच्चे धर्मोपदेष्टा, और त्रिभुवन प्रभुके साक्षात्रूप में देखकर वे वनवासी एकान्तवादी तपस्वी भी, अपने मिथ्या तपरूप श्रमको विफल जानकर और आपके समान होनेकी इच्छा रखते हुए आपकी शरणको प्राप्त होकर मोक्षमार्गमें लगे ॥ १३४ ॥

स सत्य-विद्या-तपसां-प्रणायकः,
समग्रधीरुग्रकुलाऽम्बरांशुमान् ।

मया सदा पार्श्व जिनः प्रणम्यते,

विलीन-मिथ्यापथदृष्टि विभ्रमः ॥ १३५ ॥

अर्थ—जो सच्ची विद्याओं तथा तपोंके प्रणेता हैं, सर्वज्ञ हैं, उग्रवंशरूपी आकाशमें चन्द्रमाके समान प्रकाश-मान हैं और जिन्होंने मिथ्यादर्शनादिरूप मिथ्यामार्गकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होने वाले भ्रमोंको नाश किया है ऐसे वे श्री पार्श्वप्रभु मेरे द्वारा सदा प्रणाम किये जाते हैं॥ १३५ ॥

(२४) श्री महावीरतीर्थंकरकी स्तुति

कीर्त्या भुवि भासितया,

वीर त्वं गुणसमुत्थया भासितया।

भासोडुसभाऽसितया,

सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभाऽऽसितया।

अर्थ—हे वीरजिन ! आप निर्मल अपने आत्मीक गुणोंसे समुत्पन्न उस निर्मल कीर्तिसे पृथ्वी पर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाश में कुन्द-पुष्पोंकी-सी धवल शोभा रखने वाले नक्षत्रोंकी सभाकी धवल शोभासे सुशोभित होता है ॥ १३६ ॥

तव जिन शासनविभवो।

जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः।

दोषकशाऽसनविभवः,

स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभवः॥

अर्थ—हे वीर जिनेन्द्र ! आपके शासनकी परम महिमा कलिकालमें भी जयको प्राप्त हो रही है, उसके अद्भुत प्रभावसे गुणोंमें अनुशासनप्राप्त भव्यजीवोंका संसार-परिभ्रमण सदाके लिये नाश हुआ है। चाबुकोंकी तरह दुःख देने वाले काम-क्रोधादि दोषोंको जो दूर करने में समर्थ हैं और अपने ज्ञानकी महिमासे जिन्होंने लोकप्रसिद्ध हरिहरादिकोंके माहात्म्यको क्षीण कर डाला है ऐसे श्री गणधरादिदेव भी आपके इस शासनमाहात्म्य की स्तुति करते हैं ॥ १३७ ॥

अनवद्यः स्याद्वाद-
स्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादो
सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः ॥

अर्थ—हे वीरप्रभु ! आपका 'स्यात्' इस पदसे अर्थात् किसी अपेक्षाको लेकर वस्तुस्वभावको कथन करने वाला जो स्याद्वाद-अनेकान्तात्मक-शासन है वह दोष रहित है। क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष तथा आगमादिक प्रमाणों से कोई विरोध उपस्थित नहीं होता है। इसके सिवाय जो सर्वथा एकान्तवाद है वह सदोषी है क्योंकि वह प्रत्यक्षादि प्रमाण व आगमादिकसे विरोधको लिये हुए है। केवल इतना ही नहीं, किन्तु अपने इष्ट अभिमतको

भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है ॥ १३८ ॥

त्वमसि सुरासुरमहितो,
ग्रन्थिकसत्त्वाऽऽशयप्रणामाऽमहितः ।
लोकत्रयपरमहितोऽ-
नावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः ॥

अर्थ—हे वीर भगवन् ! आप सुर-असुरोंसे अर्थात् चार प्रकारके देवोंसे पूजित हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि प्राणियोंके अन्तःकरणके प्रणामद्वारा आप पूजित नहीं हैं अर्थात् मिथ्यात्वी जीव आपकी भक्ति करके भी आपको यथार्थरूपसे पहिचान न सकनेके कारण भक्तिशून्य ही है अतः उनकी भक्ति से आपकी पूज्यता नहीं है। आप तीन लोकके प्राणियोंके परम हितकारी हैं। केवलज्ञानके धारक हैं और मोक्षधाममें आप विराजित हैं ॥ १३९ ॥

सभ्यानामभिरुचितं,
दधासि गुणभूषणं श्रिया चारुचितम् ।
मग्नं स्वस्यां रुचिरं,
जयसि च मृगलांछनं स्वकान्त्या रुचितम् ॥

अर्थ—हे वीरनाथ ! आप समवसरण स्थित भव्य जीवोंको प्रिय और अष्ट प्रातिहार्यादिरूप विभूतिसे सम्पन्न ऐसे अनन्तचतुष्टय-वीतरागतादिरूप गुणोंके आभूषणको

धारण किये हुए हैं। और अपने शरीरकी कान्तिसे आप उस चन्द्रमाको भी जीत लेते हैं जो अपनी शोभामें आप ही मग्न है तथा जगतको प्रिय एवं सुन्दर मालूम होता है। अर्थात् आपके शरीर की कान्ति चन्द्रमासे भी बढ़ी-चढ़ी है ॥ १४० ॥

त्वं जिन गत-मद-माय-
स्तव भावानां मुमुक्षुकामद मायः।
श्रेयान् श्रीमदूमाय-
स्त्वया समादेशि सप्रयामदमायः॥

अर्थ—हे वीर जिनेन्द्र ! आप मान व माया से रहित हैं, मुमुक्षुओंकी इच्छाको पूर्ण करने वाले हो। जीवादि पदार्थोंका ज्ञान परम प्रशंसनीय है और आपने लक्ष्मी-विशिष्ट हेयापादेय तत्त्वके ज्ञानका व महाव्रतादि सहित परम इन्द्रियजयकी प्राप्तिका उपदेश दिया है ॥ १४१ ॥

विशेषार्थ—आपकी भक्ति भावसे स्तुति करने वाले मान व मायाको शीघ्र ही छोड़ देते हैं तथा आप सरीखे गुणोंके धारण करनेके अधिकारी भी शीघ्र ही हो जाते हैं।

गिरिभित्त्यवदानवतः
श्रीमत इव दन्तिनः श्रवद्दानवतः।
तव शमवादानवतो
गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ॥१४२॥

अर्थ—जैसे सर्वलक्षणसम्पन्न उत्तम-भद्रजाति-विशिष्ट गजराजका स्वाधीन गमन होता है तथा साथ ही वह अपने गण्डस्थलसे मद बहाता रहता है और पर्वतोंके किनारोंको विदारण करते हुए चलता है उसी प्रकार आपका उदार व हितकारी विहार पृथ्वीमें हुआ। आपने काम-क्रोधादिक दोषोंकी शान्तिके प्रतिपादक आगमों की रक्षा करते हुए धर्मोपदेशरूप अमृतका प्रवाह बहाया, सर्व प्राणियों को परम अहिंसारूप अभयदान प्रदान किया आपके विहारसे किसीको भी पीड़ा न पहुँची। साथ ही हिंसा विधायक, और एकान्त प्रतिपादक आगमों का खंडन किया ॥ १४२ ॥

बहुगुण-सम्पदसकलं
परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम्।
नयभक्त्यवतंसकलं
तव देव मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥१४३॥

अर्थ—आपके शासनसे भिन्न अन्य सर्वथा एकान्त मत मधुर२ वचनोंकी रचनासे भरपूर होने पर भी बहु-गुणोंकी सम्पत्तिसे रहित हैं। अर्थात् एकान्तवादिताका पक्ष रहने के कारण उनके यहाँ यथार्थवादिता बन ही नहीं सकती। किन्तु हे श्री वीर भगवन्! आपका शासन नैगमादि नय तथा उनके भंग-स्यादस्ति-स्याद्नास्ति

आदिरूप अलङ्कारों से शोभायमान है। अर्थात् भिन्न २ दृष्टिकोणोंसे अनन्तधर्मात्मक वस्तु-तत्त्वका यथार्थ निरूपण करने के कारण यथार्थवादिता आदि बहुगुणों की सम्पत्तिसे युक्त है। अतएव पूर्ण एवं जगतके लिये कल्याणकारी है ॥ १४३ ॥

❀ इति श्री बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रं समाप्तम् ❀